भारतीय-महिला



महारानी अहिल्याबाई

भगवद्दत्त

* ओम् *

भारतीय-महिला

लेखक

पंडित भगवद्दत्त बी. ए.

अध्यक्ष, वैदिक अनुसंधान संस्था

मार्गशीर्ष १९९४ विक्रमीय] [दिसम्बर १९३७ ईस्वी

मुद्रक
श्री देवचन्द्र विशारद, एच. बी. प्रेस, लाहौर

प्रकाशक
पंडित भगवद्दत्त बी. ए., वैदिक अनुसन्धान संस्था
माडल टाउन (पंजाब)

लेखक की अन्य पुस्तकें

१—वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग
(वेदों की शाखाएँ) ३)

२—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन दो भाग ।।।≡)

३—भारतवर्ष का इतिहास प्रथम भाग १)

द्वितीय संस्करण—दो हज़ार

आत्म-निवेदन

पञ्जाब में हिन्दी भाषा की उत्तरोत्तर थोड़ी-थोड़ी उन्नति हो रही है। इस उन्नति में पञ्जाब यूनिवर्सिटी का भी पर्याप्त हाथ है। यहाँ की हिन्दी-परीक्षाओं ने जनसाधारण में और विशेष कर महिलाओं में हिन्दी का प्रेम जागरित कर दिया है। इन परीक्षाओं की पाठ-विधि में ऐसी रचनाओं की आवश्यकता है कि जिन में प्राचीन जातीय-गौरव के प्रदर्शन के साथ साथ भाषा का भी ध्यान रखा जाय। इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर मैंने इस 'भारतीय महिला' को लिखा है।

इस ग्रन्थ में लिखे गए चरित्र कई अन्य पुस्तकों में भी यत्र-तत्र मिलते हैं, परन्तु मैंने उनकी ऐतिहासिक बातों का अधिक ध्यान रखा है। प्राचीन देवियों के जीवन-चरित्र लिखते हुए विश्व-कवि वाल्मीकि और सर्व-वेदविद् द्वैपायन व्यास की भाषा का ही मैंने रूपान्तर किया है। आधुनिक काल की वीरांगनाओं के चरित्र एकत्र करने में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा के 'राजपूताना के इतिहास' से मुझे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। ऐतिहासिक अन्वेषण के साथ ही प्रचलित कथाएँ भी दी गई हैं।

आशा है कि हिन्दी-भाषा के प्रेमी इस छोटे से ग्रंथ का समुचित आदर करेंगे।

बृहस्पतिवार — भगवद्दत्त

१२ सितम्बर १९३५

सूची

सीता

आजीवन जिसके भाग्य में दुःख ही दुःख बदा था, अनेक कष्टों को सहती हुई भी जो सत्य-पथ से विचलित न हुई, जिसकी पुण्यगाथा को लेखबद्ध कर महर्षि वाल्मीकि भी अजर-अमर हो गये हैं, जिस पवित्रता की मूर्ति के नाममात्र के ग्रहण करने से हज़ारों वरस बाद भी स्त्री-जाति अपने को कृत-कृत्य समझती है, वह सती-साध्वी सीता जनकवंश के राजर्षि सीरध्वज की पुत्री थी। जनकवंश का राज्य मिथिला देश में था, जिसे आज कल तिरहुत कहा जाता है, और जिसके अंतर्गत विहार के मुज़फ्फ़रपुर और दरभंगा के ज़िले हैं। इस वंश के प्रतिष्ठाता का नाम था निमि विदेह। निमि के पुत्र हुए मिथि और उनके पुत्र राजा जनक। उसके पश्चात् मिथिला देश में जितने भी राजा हुए सब जनक के नाम से प्रसिद्ध हुए और

निमिविदेह के वंशज होने के कारण वैदेह भी कहलाए। इसी कारण राजर्षि सीरध्वज को भी प्रायः जनक नाम से ही पुकारा जाता है। राजा जनक आदर्श राजा थे। गृहस्थ होते हुए भी, संसार के समस्त कामों का संपादन करते हुए भी, वे योगनिरत, संसार से निर्लिप्त, आसक्ति-शून्य और ब्रह्मज्ञानी थे। ब्राह्मण लोग भी उनसे उपदेश ग्रहण करने आते थे और उनके साथ धर्म-चर्चा और ब्रह्म मीमांसा करने में पवित्र आनंद का अनुभव करते थे। इसी कारण ऋषि मुनियों ने उनको राजर्षि की उपाधि प्रदान की थी।

माता-पिता के अपरिमित स्नेह में बालिका सीता शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह दिन-दिन बढ़ने लगी। सर्व-गुण-संपन्ना सीता को पुत्री-रूप में पाकर राजा जनक भी अपने को धन्य समझते थे। जब उसने बाल्यावस्था से किशोरावस्था में पदार्पण किया तब राजर्षि जनक को यह चिंता हुई कि किस सुयोग्य वर के हाथ सीता को सौंपा जाय। उस समय राजर्षि जनक ने यह प्रतिज्ञा की कि पुरखाओं के समय से हमारे घर में रखे हुए महाकाय शिव-धनुष को जो वीर उठा सकेगा उसी के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा।

सीता के रूप की महिमा को सुन कर अनेकों राजा उसके साथ विवाह करने की इच्छा से राजर्षि जनक के यहाँ आते, किन्तु शिव-धनुष को उठा न सकने के कारण लज्जित हो कर लौट जाते थे। कहते हैं कि लंका-नरेश रावण भी एक बार सीता के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर उसे पाने की इच्छा से आया था, परन्तु प्रतिज्ञा पूरी न कर पाने के कारण उसे भी अपमानित होकर वापिस जाना पड़ा था। अंत में कई राजाओं ने मिलकर ईर्ष्या-वश

मिथिला को आ घेरा पर राजर्षि जनक ने अपने तप और बल से सबको परास्त कर दिया; पर दिन-रात उन्हें यह चिंता खाने लगी कि क्या पृथ्वी में ऐसा वीर है भी या नहीं जो उनकी प्रतिज्ञा को पूरा कर सके अथवा पृथ्वी वीर-विहीन हो गई है और विधाता को वैदेही का विवाह स्वीकृत ही नहीं।

२

उन दिनों अयोध्या में रघुवंशी वीराग्रगण्य चक्रवर्त्ती महाराजा दशरथ राज्य करते थे। उनकी तीन रानियाँ थीं। बड़ी कौसल्या से रामचन्द्र, मँझली कैकेयी से भरत तथा कनिष्ठा सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न, इस प्रकार उनके चार पुत्र थे। चारों ही विद्या, बल, शूरता आदि सब गुणों से संपन्न थे। चारों भाई परस्पर बड़ा प्रेम करते थे, पर राम और लक्ष्मण की जोड़ी तो अनुपम थी।

एक दिन महर्षि विश्वामित्र ने आकर महाराज दशरथ से निवेदन किया—"महाराज, आजकल हम एक बृहत् यज्ञ के अनुष्ठान में लग रहे हैं, परन्तु राक्षसों के अत्याचार के कारण उसका निर्विघ्न पूरा होना कठिन हो गया है। वे यज्ञ-वेदी पर मांस के टुकड़े फेंकते हैं और रुधिर की वर्षा करते हैं। आप क्षत्रिय राजा हैं, आपका कर्तव्य है कि आप हमारे यज्ञ की रक्षा करें। सुना है कि राजपुत्र रामचन्द्र और लक्ष्मण अद्वितीय धनुर्धारी हैं। वे अपने दिव्य-बल से इन विघ्नकारी राक्षसों का उपद्रव रोकने में समर्थ होंगे। अतः कुछ दिन के लिए अपने इन दोनों पुत्रों को यज्ञ की रक्षा के लिए हमारे आश्रम में भेज दीजिए।"

मोह-वश पहले तो महाराज दशरथ ने महर्षि विश्वामित्र के साथ पुत्रों को भेजने में आनाकानी की, परन्तु पीछे कुलगुरु वसिष्ठ

के कहने से अनमने मन से महाराज दशरथ ने दोनों राजकुमारों को ऋषि के साथ जाने की आज्ञा दे दी।

आश्रम में पहुँचकर रामचन्द्र और लक्ष्मण ने ताड़का और सुबाहु आदि कई राक्षसों का संहार किया। इस प्रकार महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ।

रामचन्द्र के हस्तलाघव और धनुःसंचालन को देख महर्षि विश्वामित्र को विश्वास हो गया कि ये राजर्षि जनक के धनुष को सहज ही उठा सकेंगे, और उनकी अद्भुत-रूप-गुण-संयुक्ता कन्या भी इनके ही योग्य है। अतः यज्ञ समाप्त होते ही विश्वामित्र ऋषि तथा अन्य ऋषिगण उन दोनों राजपुत्रों सहित जनक का यज्ञ देखने के बहाने चल दिये। कई देश, नगर और नदियाँ पार करके सारी मंडली जनकपुर के समीप पहुँची। राजा को उनके आगमन की सूचना पहले ही से मिल गई थी अतः ऋषि के यज्ञ-मंडप के निकट आते ही राजर्षि जनक ने अपने पुरोहित शतानन्द तथा अमात्य सहित उनका स्वागत किया और बड़े सम्मान से उन्हें उत्तम आसन देकर यथा-शास्त्र उनकी पूजा की। अनन्तर वे बोले—"महर्षि, आपके पधारने से मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, यह यज्ञ भी सफल हो गया है। कहिये किस उद्देश्य से आपका यहाँ आगमन हुआ है, और ये दोनों तेजस्वी, वीर्यवान् तथा तरुण राजपुत्र कौन हैं, तथा किस उद्देश्य से यहाँ आये हैं। इनका सुन्दर, सुगठित तथा कोमल शरीर देखकर मुझे बड़ा मोह होता है, अतः कृपया इनका परिचय देकर कृतार्थ कीजिए।" यह सुन विश्वामित्र ने कहा—"राजर्षे! ये अयोध्या के चक्रवर्ती महाराज दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण हैं। यज्ञ की रक्षा के लिए महाराज ने इन्हें मेरे साथ भेजा था।

इन्होंने अपने अद्भुत पराक्रम से सुबाहु और मारीच आदि सब राक्षसों को परास्त किया। मैंने सुना था कि महाकाय शिव-धनुष को उठाने वाले के साथ आपने अपनी अनिंद्य-सुन्दरी कन्या का विवाह करने की प्रतिज्ञा की है। यद्यपि आपकी प्रतिज्ञा बड़ी कठिन है तथापि मुझे विश्वास है कि रामचन्द्र उस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने में समर्थ होंगे। अतः इस उद्देश्य से और आपका यज्ञ देखने की इच्छा से ही मैं इधर आया हूँ।" विश्वामित्र के वचन सुन राजा जनक बड़े आनन्दित हुए, उन्होंने शीघ्र ही अपने सेवकों को वहाँ उस संदूक को लाने की आज्ञा दी जिसमें धनुष रक्खा था। फिर वे विश्वामित्र से बोले—"मुनिवर! ज्ञात होता है कि मुझे उपकृत करने के लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है। अहा, यह सुन्दर और तरुण दशरथ-पुत्र इस धनुष को उठाने में सफल हो जाँय तो इस संसार में मेरे समान भाग्यशाली पुरुष कोई भी न होगा। मेरी रात-दिन की चिंता दूर हो जायगी।" इतने में अमात्यों ने यज्ञ-मण्डप में उस संदूक को लाकर खोला, तब ऋषि विश्वामित्र ने राम को संबोधन करके कहा—

"उठहु राम भंजहु भव चापू, मेटहु तात जनक परितापू"

ऋषि के वचन सुनते ही रामचन्द्र सिंह-गति से उस संदूक के पास पहुँचे और उन्होंने सहज ही में अपने बाँये हाथ से उस धनुष को संदूक में से उठा लिया और ज्योंही दाहिने हाथ से उसे छुआ त्योंही उस पुराने धनुष के टुकड़े-टुकड़े हो गये। उस समय उस धनुष के टूटने से इतना भयंकर शब्द हुआ मानो भूकंप से कोई पर्वतशृंग टूटकर गिर पड़ा हो।

यह देख राजर्षि जनक और उनकी स्त्री के हर्ष का पारावार न

लगे। गुरु वसिष्ठ मंगल-सामग्री जुटाने लगे। राजमार्ग की सजावट होने लगी, चारों ओर उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं, समस्त नगरी में एक अपूर्व प्रसन्नता का साम्राज्य था। अन्तःपुर में आनन्द की धारा वहने लगी।

परन्तु किसको पता था कि यह सब प्रसन्नता, शरद्-काल के बादल के समान एक क्षण में ही विलीन हो जायगी। कौन जानता था कि विधि का विधान कुछ और ही है। रानी कैकेयी की दासी मंथरा ने जब यह समाचार सुना तो उसे लकवा मार गया। वह उदास मुँह बनाकर कैकेयी के पास पहुँची। उसने कैकेयी को सूचना दी कि कल रामचन्द्र को युवराज-पद मिल रहा है। कैकेयी ने यह हर्ष-समाचार सुन तत्क्षण अपना हार उतार कर उसे दे दिया। पर उस कुब्जा दासी ने वह हार स्वीकार न किया और क्रोध से बोली—"प्रसन्नता तुम को हो सकती है मुझे तो नहीं है। रानी तुम सचमुच बड़ी भोली हो। राजा ने तुम्हारे पुत्र को परदेश भेज दिया है और ऐसे समय वे राम को युवराज-पद दे रहे हैं। अब रामचन्द्र राजा होंगे और लक्ष्मण उनके सामंत; कौशल्या राजमाता होंगी और तुम तथा भरत उनकी सेवा करने वाले।" यह सुन पहले तो कैकेयी ने कहा—

जेठ स्वामी सेवक लघु भाई, दिनकर-कुल-रीति सुहाई।

पर थोड़ी देर बाद ही कुटिल मंथरा ने उस पर ऐसा रंग चढ़ाया कि कैकेयी स्वयं यह सोचने लगी कि किस प्रकार इस आपत्ति से बचा जाय, किस प्रकार रामचन्द्र का राज्याभिषेक न होने दिया जाय। तब मंथरा ने उसे सुझाया कि एक बार लड़ाई में तुमने महाराज की सहायता की थी, उस अवसर पर महाराज ने तुम्हें दो वर देने को कहे थे। वे ही दोनों वर तुम राजा से इस

समय माँग लो—एक से भरत को राजगद्दी, दूसरे से राम को चौदह वर्ष का वनवास। इतनी लंबी अवधि के वाद राम वन से वापिस आ सकें यह संभव नहीं। यदि आ भी गये तो भरत का प्रभाव स्थिर हो जाने पर यहाँ उनकी दाल न गल पायगी। बस, तुम राजा के आने से पहले ही कोपभवन में जा बैठो और जब तक वे रामचन्द्र की शपथ न खायें तब तक तुम कुछ न कहना। दासी की अनुमति के अनुसार कैकेयी वस्त्राभूषण उतार क्रुद्ध सर्पिणी की तरह कोपभवन में जा कठिन भूमि पर लोटने लगी।

आनन्द में मग्न राजा नियमानुसार कैकेयी के मन्दिर में पहुँचे। प्रतिहारी ने पता दिया कि रानी कोपभवन में है। राजा विस्मित थे, वे उसके क्रुद्ध होने के कारण का अनुमान न कर सके। तत्क्षण कोपभवन में गये। भीतर प्रविष्ट होते ही उन्होंने देखा कि कैकेयी पृथ्वी पर लेटी हुई है। राजा ने उससे पूछा—"प्रिये, इस आनन्द के अवसर पर तुम्हारे क्रोध का क्या कारण है? बताओ, मुझे राम की शपथ, जो तुम कहोगी वही तुम्हें दूँगा। इस पर कैकेयी ने बड़े हठ के अनंतर अपने वही दो वर माँगे जिन्हें सुनते ही दशरथ संज्ञा-हीन हो गये। चेतना आने पर वे बहुत देर तक कैकेयी को मनाते रहे पर वह न मानी। अंत में दशरथ ने प्रार्थना की कि तुम भरत को राज्य दे दो पर रामचन्द्र को वनवास न दो। पर मंथरा की शिष्या को यह कब स्वीकृत हो सकता था। उसने राजा को अन्तिम बार स्पष्ट कह दिया—

"होत प्रात मुनि वेष धरि, जो न राम वन जाहिं।
मोर मरन राउर अजस, नृप समझिय मन माहिं।"

सत्यसंध दशरथ की तत्कालीन दशा का वर्णन न हो सकता था। वे बार-बार राम का नाम लेकर मूर्छित हो जाते थे, और

हृदय में यही मनाते थे कि सवेरा ही न हो ताकि कोई रामचन्द्र से जाकर यह कह ही न सके। पर किसी के मनोरथ कब पूरे हुए हैं! दिनमणि ने किसके सुख और दुःख पर ध्यान दिया है!

सवेरा हुआ। सुमंत्र राजा के दर्शन को पहुँचे, पर व्याकुल राजा को देखकर विस्मित रह गये। फिर कैकेयी की आज्ञा से राम को वहीं बुला लाये। राम को देखते ही 'राम' इतना कहते ही राजा फिर चेतना-हीन हो गये।

तब कैकेयी ने उन्हें सारी कहानी सुनादी। पितृ-भक्त राम पिता के वचन को पालने के लिए तत्क्षण वनवास की तैयारी करने के लिए तथा विदा होने के लिए माता कौसल्या के पास पहुँचे। जब माता कौसल्या ने अपने पुत्र के मुख से यह कुसमाचार सुना तब वे सन्न ही न रह गई, अपितु कुठाराघात से छिन्न कदली-वृक्ष की भाँति मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ीं। श्री रामचन्द्र जी ने कठिनता से उन्हें उठाया और समझाया कि आपकी जैसी माता का पुत्र भी क्या पिता की आज्ञा का पालन न करे, पिता की प्रतिज्ञा को तोड़ दे, क्या उसे यही शोभा देता है? तब विवश हो उन्होंने शान्ति-पूर्वक आज्ञा दे दी और राम उनकी चरण-वंदना कर अपने महल की ओर प्राणप्रिया सीता से विदा लेने को चले।

उस समय श्रीराम की विचित्र ही अवस्था थी। उनकी मुखाम्बुजश्री, जिसके विषय में कवियों ने लिखा है, "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः," इस समय उड़ चुकी थी। चिरानुरक्ता प्रियतमा को यौवन में चिर-विरह के दारुण दुःखसागर में डुबोकर चले जाना होगा, यह विचार ही उनके लिए कष्टकर हो रहा था। अभिषेकोत्सव की प्रतीक्षा में जिसका चित प्रफुल्लित हो रहा था उस कुसुम से कोमल रमणी को अकस्मात्

वज्रपात के समान यह दारुण संवाद कितना चकित और व्यथित कर देगा, यह सोचते ही रामचन्द्र विचलित हो रहे थे, उनके मुख पर स्वेद की बूँदें चमक रही थीं। उनके स्वेदयुक्त और उतरे हुए वदन को देखकर सीता ने चिंतितस्वर से पूछा—"नाथ, कोई नई दुर्घटना तो नहीं हुई, स्वभाव-सौम्य आपका वह प्रशान्त भाव कहाँ गया।" अव रामचन्द्र जी ने उत्तर दिया—"प्रिये, वचनवद्ध सत्यसंध पिताजी आज मुझे वन को भेज रहे हैं, इसलिए वन जाने से पहले तुमसे विदा माँगने आया हूँ। तुम नित्य प्रातःकाल देवताओं की पूजा करना, पूज्य पिताजी की वंदना करके मेरी दुःखित माता को भी समझाया करना। मेरे लिए चिन्ता न करना। चौदह बरस के वाद मैं लौट ही आऊँगा। अच्छा, तो अव मैं जाता हूँ।" सीता जी ने वड़ी धीरता के साथ रामचन्द्र जी के वचन सुने, लक्ष्मण की भाँति उन्होंने वृद्ध ससुर के लिए कुछ अपशब्द न कहे। अन्य स्त्रियों के भाँति माता कैकयी के प्रति कुछ दुर्भाव भी प्रकट नहीं किये, अपितु पति से केवल यही कहा—'नाथ, वीरों और क्षत्रियों को न फवने वाले अयशस्कर शब्दों का आप उच्चारण क्यों कर रहे हैं? महाराज, माता-पिता वन्धु और पुत्र आदि सभी अपने-अपने भाग्य के अधिकारी हैं और अपने भाग्य के अनुसार फल भोगते हैं; पर भार्या तो पति के ही भाग्य को भोगने वाली होती है। इसलिए आप के वनवास में मैं भी सहकारिणी हूँ, और अपने को वन जाने के योग्य समझती हूँ। स्त्रियों का तो पति ही मुख्य आधार होता है—उन्हें पिता, माता, पुत्र, सखी और स्वयं उनकी आत्मा का भी आधार नहीं होता। अतः यदि आप आज वन को जाते हैं तो मैं आपके आगे चलकर मार्ग के काँटों को अपने पैरों तले दवाकर आपका मार्ग परिष्कृत कर दूँगी। सदा

सर्वदा आपकी सेवा करके व्रत-नियम करती हुई बड़े आनन्द से मधुर सुगंध-युक्त भिन्न भिन्न वनों में आपके साथ विचरण करूँगी।

अब रामचन्द्र बोले—"प्रिये, मैं जानता हूँ कि तुम प्रेम विवश हो अवश्य वन जाने का हठ कर रही हो। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे साथ वन में रहने से मेरा जीवन सुखकर हो जायगा, वह वन मुझे नंदन कानन-सा प्रतीत होगा; पर प्रिये, तुमने तो कभी कठोर पृथ्वी पर भी पैर नहीं रखा फिर कंटकित और कंकड़-पूर्ण ऊबड़-खाबड़ वन-भूमि में बिना पदत्राण के तुम कैसे चल सकोगी। दुर्गम नदी नाले, और उच्चगिरिशृंगों को तुम किस तरह पार कर सकोगी। वन में भालू, सिंह, व्याघ्र और हाथी आदि वन्यपशु ऐसा शब्द करते हैं, ऐसा चिंघारते हैं कि वीरों का भी धैर्य नष्ट हो जाता है, फिर तुम तो कुसुम से भी कोमल रमणी हो। वन में भूमि-शयन, वल्कल-वसन और कन्द-मूल फलों का भोजन करना होगा, वह भोजन भी सदा नहीं मिलता। कोसों तक पानी की बूँद भी नहीं दिखाई देती। नाना प्रकार के भयंकर और विषैले सर्प मार्ग में घूमते रहते हैं। फिर वायु, वर्षा, आतप का सहना अत्यंत कठिन होता है। वन में मनुष्यों का माँस खाने वाले राक्षस फिरते हैं जो कपट से अनेकों वेष बना लेते हैं। इसीलिए हे मृगनयनि! वन की याद आते ही बड़े बड़े धीर भी डर जाते हैं फिर तुम तो भीरू स्वभाव वाली हो। तुम जैसे हंसगामिनी को यदि मैं वन में ले जाऊँगा, तो लोग मुझे अपयश देंगे। हे चन्द्रवदनि, वन के दुःखों को विचारकर तुम हठ का परित्याग करो और मेरी शिक्षा मानकर यहीं सास-ससुर की चरण-सेवा कर अक्षय धर्म-लाभ करो।

यह सुन उमड़ती हुई अश्रुधारा को बलात् संवरण कर तथा

धैर्य धारण कर जनकनन्दिनी बोली—"नाथ! आपने वन के जितने भी कष्ट बताये हैं उन सब को सुन कर भी मैं इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि "प्रियवियोग-सम दुःख जग नाहीं" वन के बहुत से दुःख, भय, संताप, और नानाविध क्लेश स्वामी की वियोगाग्नि के लवलेश की भी बराबरी नहीं कर सकते। हे रघुकुल-कुमुद-विधु, आप के विना देव-लोक भी मुझे नरक के समान है। माता-पिता, भाई-बन्धु, सास-ससुर जितने भी स्नेह के नाते हैं, विना पति के स्त्री को सूर्य से भी बढ़ कर तपाने वाले हैं। शरीर-संपत्ति तथा प्रासाद प्रियतम के विना सब शोक-पुंज हैं। शरत्काल के निर्मल चन्द्रमा के समान आपके मुख को देखकर और आपके चरण-कमल की सेवा कर ये सब दुःख भी मुझे सुख प्रतीत होंगे। आपके साथ रहने पर पक्षी और मृग मेरे कुटुंबी होंगे, वन ही नगर होगा, और वल्कल रेशमी वस्त्र के समान होंगे। पर्ण-कुटी स्वर्गीय सदन के समान सुखदायी होगी। कुश और पत्तों की शय्या कोमल सेज के समान, कन्द-मूल फूलों का भोजन अमृत के समान तथा उच्चगिरिशृंग अयोध्या के गगन-चुंबी प्रासादों के समान होंगे। हे रघुवंश-शिरोमणि आपने वन के अनेक कष्ट कहे हैं तो हे नाथ आप ही बताइये क्या—

"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू।"

नाथ! आपके इन दारुण वचनों को सुनकर मुझे जितना कष्ट होता है उतना वन में रहने से कभी न होगा। आपके चरण-कमलों को क्षण-क्षण अवलोकन करने से मुझे मार्ग-जनित श्रान्ति का अनुभव ही न होगा और आपने जो वन के राक्षसों का भय दिखाया है तो स्वामी के साथ रहते कौन मेरी ओर आँख भी उठा सकता है? भला सिंह की स्त्री पर शशक और शृगाल कब कुदृष्टि

डाल सकते हैं ? स्वामिन् ! साथ ही विश्वास रखिये कि मैं आपका वियोग तो एक पल भर भी नहीं सह सकती, चौदह वर्ष का तो कहना ही क्या ? इतने पर भी यदि आप मुझे अवध में छोड़ जायँगे तो यह निश्चित समझिये कि अवधि के पूर्व ही प्राण-पक्षी इस शरीर को छोड़ जायँगे।"

विनय और प्रेम-सूचक अनेक बातें कह कर सीता स्वामी के कण्ठ से लग कर रोने लगीं। उसके दोनों कमल-पत्र-नेत्र अश्रु-जल से ढक गये। सती-साध्वी की ऐसी अश्रुत-पूर्व दृढ़ता देखकर रामचन्द्र बोले—"देवि, तुम्हें दुखी देख कर मैं स्वर्ग की भी इच्छा नहीं करता, यदि तुम्हें वन-गमन में ही सुख है तो चलो, तुम्हारे पास जो कुछ धन, आभूषण और रत्न हैं उन्हें वितरण कर चलने की तैयारी करो। मुहूर्त भर में ही सब अमूल्य द्रव्य सखियों को वितरण कर वह निराभरणा सुन्दरी वनवास के लिए तैयार हो गई।

भ्रातृ-भक्त लक्ष्मण भला राम को कब छोड़ने वाले थे। माता सुमित्रा ने धैर्य धारण कर उन्हें सहर्ष स्वीकृति दे दी और कहा—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू, तहाँ दिवस जह भानु प्रकासू।
जो पै सीय राम बन जाहीं, अवध तुम्हार काज कछु नाहीं।

कुछ ही क्षण के अनन्तर तीनों पिता के पास पहुँचे। खग्रास सूर्य-ग्रहण के समान अथवा भस्मावृत अग्नि के समान राजा निस्तेज दिखाई देते थे। अवसन्न-प्राय दिनकर के समान उनकी ज्योति क्षीण प्रतीत होती थी। वे वन-यात्रा के लिए प्रस्तुत पुत्रों को आलिंगन करने के लिए बढ़े, परन्तु मूर्छित हो गिर पड़े। सब ने उठा कर उन्हें पर्यंक पर लिटा दिया। इसके पश्चात् राम और लक्ष्मण ने माता-पिता और

सुहृदों के सम्मुख जटावल्कल धारण किया। उस समय सीता के पहनने के लिए भी कैकेयी ने उसके हाथ में चीर-वस्त्र प्रदान किये। सीता सजल-नेत्र और भीत-कण्ठ से रामचन्द्र की ओर झाँक कर बोली—"हम नहीं जानतीं कि चीर-वस्त्र किस तरह पहने जाते हैं, हमें बतादो।" इस पर रामचन्द्रजी ने अपने हाथों से उसके कपड़ों के ऊपर ही वल्कल बाँध दिये। तत्पश्चात् माता-पिता की चरण-वन्दना कर तीनों वनगमन को तैयार हुए। क्या ही कारुणिक दृश्य था! विधि की कैसी विडंबना थी! वह राजपुत्र, एक दिन पहले जिसके राज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी, आज वल्कल वस्त्र पहन वनगमन के लिए प्रस्तुत है! साथ में वह राजनन्दिनी राजवधू कोमल रमणी भी है जिसने अब तक कठिन भूमि पर कभी पैर भी न रखा था। अयोध्या-निवासियों की आँखों से अजस्र अश्रुधारा वह रही थी, अन्त में सुमन्त द्वारा लाये गये रथ पर वे तीनों बैठ गये। रामचन्द्र ने सुमन्त को शीघ्र रथ चलाने की आज्ञा दी।

इतने में महाराज दशरथ को चेतना आई और वे रथ के पीछे ही 'हा राम' 'हा राम' करते और लड़खड़ाते हुए दौड़ने लगे। जब रथ दूर निकल गया तब फिर मूर्छित होकर गिर पड़े। हजारों पुरुषों की भीड़ फिर भी रथ के साथ थी। राम उनको लौटाने का प्रयत्न करते थे पर कोई लौटने को प्रस्तुत न था। सब उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। चलते-चलते ४-५ योजन जाने पर संध्या हो जाने के कारण डेरा डाला गया।

रात को जब सब लोग अभी गहरी नींद में सो रहे थे तभी राम ने सुमन्त को जगाकर रथ जोतने को कहा। रथ जुतते ही राम लक्ष्मण और सीता को लेकर उसमें जा बैठे और उस मार्ग

से चल पड़े जो वास्तविक मार्ग न था। इस प्रकार, सबको सोता छोड़ राम निकल भागे। उधर जागने पर लोग राम को न पाकर रोते-बिलखते अपने घरों को लौट आये।

श्रीराम, लक्ष्मण और सीता चलते-चलते गंगा के किनारे शृङ्गवेरपुर पहुँचे। वहाँ का राजा गुह नाम का एक निषाद था। वह आगे बढ़कर रामचन्द्र जी को लेने आया। रामचन्द्र जी ने भी उसको आलिंगन किया और उस रात गंगा के किनारे ही ठहरे।

प्रातः होते ही राम ने सुमन्त को समझा-बुझा कर घर लौटा दिया और नौका द्वारा गंगा पार करके आगे चले।

तीनों ने कंटकाकीर्ण पथ पर पैदल-यात्रा प्रारम्भ की। पर थोड़ी दूर चलने के बाद ही सीता जी की गति सर्वथा मंद पड़ गई, उनके ललाट पर स्वेद की बूँदें चमकने लगीं। महाकवि तुलसीदास ने उनकी तत्कालीन दशा का क्या ही सुन्दर वर्णन किया है—

पुर तें निकसीं रघुवीर-बधू धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिर बूझत हैं चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करि हौ कितवै।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।

सीता को इतना परिश्रान्त देख रामचन्द्र एक इंगुदी के पेड़ के नीचे विश्राम करने लगे। थोड़ी देर में सीता जी को नींद आगई। उस तृण-शय्या-शायिनी के धूप से म्लान और उपवास के कारण श्री-हीन क्लान्त आनन को निहार कर रामचन्द्र दैव को धिक्कारने लगे। इस तरह चलते और विश्राम करते हुए तीनों भारद्वाज मुनि के आदेशानुसार यमुना पारकर चित्रकूट पर्वत के निकट पहुँचे। वृक्षों से हरे-भरे पर्वत को देख श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी से

कहा—"हे कमल-लोचने ! देखो तो ये वृक्ष फूलों से कैसे लद गये हैं, इन किंशुक वृक्षों को तो देखो रक्त-पुष्पों से ये कैसे सुहावने प्रतीत होते हैं। उधर देखो वे फलों के भार से वृक्ष कैसे झुक गये हैं। चित्रकूट के उस उच्च-शृंग पर शोभित उन श्यामल वृक्षों की पक्तियों को देखो। किस तरह मेघ-माला उनसे टकरा रही है। इस फल-फूल युक्त पर्वत पर कहीं किसी रमणीय समतल भूमि पर पर्णकुटी बनाकर हम आनन्द से रहेंगे। भ्राता की आज्ञा पा सौमित्र ने उपयुक्त स्थान पर एक पर्णकुटी बना दी । उस रम्य-स्थली ने उनकी थकावट को दूर कर दिया । सीता वहाँ फूलों से मन बहलाती थी, मन्दाकिनी में स्नान करती थी, हँस-सारसादि से युक्त उसके बालुकामय तट पर पानी पीते मृग-समूहों के स्वाभाविक चापल्य को देख कर मुग्ध हो जाती थी । स्वामी के साथ इस प्रकार प्रकृति की रम्य शोभा का दर्शन कर वह अयोध्या के राज्य-सुख को भी तुच्छ समझने लगी।

इधर सुमंत्र को राम लक्ष्मण और सीता के बिना अकेला लौटा देख महाराज दशरथ पुत्र-वियोग को न सह सके, और स्वर्ग सिधार गये। भरत और शत्रुघ्न को ननिहाल से बुलाया गया। पर राम-रहित अयोध्या भ्रातृ-प्रेमी भरत के लिए नरक-तुल्य थी। पिता का क्रिया-कर्म करते ही भरत रामचन्द्र जी को लौटाने के लिए चित्रकूट पहुँचे। उन्होंने रामचन्द्र जी के सामने बहुत अनुनय-विनय किया पर पिता की आज्ञा का उल्लंघन उस पितृ-भक्त को स्वीकार न था। विवश हो कर उनकी पादुका लेकर भरत वापिस लौटे और राजसिंहासन पर पादुका रख स्वयं तापस-वेष में अयोध्या के बाहर नन्दि-ग्राम में रहकर राजकाज चलाने लगे।

४

भरत के लौट जाने के अनन्तर रामचन्द्र जी ने सोचा कि अयोध्या-निवासियों ने हमारे इस स्थान का पता पा लिया है, वे समय कुसमय पर हमें आकर कष्ट दिया करेंगे अतएव अब हमें इस स्थान को छोड़कर आगे चलना चाहिए। यह सोच वे तीनों वहाँ से आगे चल पड़े और घूमते-फिरते दण्डकारण्य में गोदावरी के तट पर पंचवटी में जा पहुँचे और उस निर्जन प्रान्त में ही पर्णकुटी बनाकर रहने लगे।

उस स्थान पर एक ओर कमलों से भरा हुआ सरोवर था और दूसरी ओर थोड़ी दूर पर गोदावरी नदी कलकल करती हुई बह रही थी जिसके तट पर हंस-कारंडव-चक्रवाक आदि पक्षी सदा क्रीड़ा करते थे। हरिणों के समूह वहाँ हरिणियों के संग सानंद विचरते थे। पुष्प-पल्लव-युक्त वृक्षों से आच्छादित होने के कारण तथा मोरों के केकारव के कारण वह स्थान बड़ा रम्य था।

सीता वहाँ वनदेवी के सदृश विहार करने लगी। वन-फूलों से अपने जूड़े को सजाती और स्फटिक-शिला पर बैठ कर हार गूँथती। जब कभी राम आखेट से थके हुए आते तो वह उनके पैर दाब उनकी परिश्रान्ति को दूर करती तथा प्रातः-सायं स्वयं जल-पात्र ले कर पर्णकुटी के आस-पास की वाटिका के वृक्षों का जल से सिंचन करती। वन के विचित्र पशु-पक्षी ही उसके वहाँ साथी थे। वे उसकी पर्णकुटी के पास ही आकर दोपहरी बिताते थे। सीता उनको अपने हाथों से खिलाती थी। जिस तरह चंचल बालक माँ को तंग करते हैं, उसी तरह वे भी सीता के साथ खेलते और उसे खिझाते थे।

रात को जब चारु चन्द्र की चंचल किरणें जलथल में खेलने

लगतीं, अवनि और अंबर-तल में स्वच्छ चाँदनी छा जाती और स्वच्छन्द सुमन्द गंधवह बहने लगता तब सीता और राम उसी पर्णकुटी में तृण-शय्या पर सुख की नींद सोते थे और वीर लक्ष्मण प्रहरी का काम करते थे। प्रातः वैतालिक विहंगों के कलरव को सुनकर सीता शय्या को छोड़ती और नैत्यिक कृत्यों के अनुष्ठान में लग जाती। कभी-कभी वहाँ उन्हें मुनियों का सत्संग प्राप्त होता, और तब तत्वज्ञान की कथा और नये नये अनुपम आख्यान सुनने को मिलते। इस तरह उस कोमल-प्रकृति की गोद में खेलती हुई, कभी मुनि-कन्याओं के साथ क्रीड़ा करती हुई सीता अयोध्या के राज-प्रासाद के सुख को सर्वथा विस्मरण कर चुकी थी। परन्तु विधि तो उसका यह सुख भी न देख सकता था।

हेमन्त ऋतु में एक दिन राम और लक्ष्मण प्रातः स्नान करके गोदावरी के तीर से लौटे ही थे, इतने में संयोगवश शूर्पणखा नाम की एक राक्षसी वहाँ उपस्थित हुई। श्रीरामचन्द्र जी की तेजस्वी, कान्ति, मदन के सदृश सुन्दर स्वरूप तथा बलवान और सुगठित शरीर को देखकर वह उन पर मोहित होगई। उसने श्री रामचन्द्र जी से विवाह का प्रस्ताव किया। उस राक्षसी का विचित्र प्रस्ताव सुनकर श्रीरामचन्द्र जी शान्ति-पूर्वक उपहास करने की इच्छा से बोले—"शूर्पणखा, मैं विवाहित हूँ, मेरी पत्नी भी साथ है, तथा वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। परन्तु मेरे छोटे भाई लक्ष्मण की स्त्री नहीं है, अतः तुम उसे ही अपना पति बनाओ, इससे तुम्हें सौतिया-डाह का शिकार न बनना पड़ेगा।" इस पर उसने लक्ष्मण से भी वही प्रस्ताव किया। परन्तु लक्ष्मण ने भी उपहास में टाल दिया। इस अपमान से क्रुद्ध हो वह पुनः श्रीराम जी के पास जाकर, सीता जी की ओर संकेत करके बोली—'तुम इस कुरूपा स्त्री के लोभ में

पड़कर व्यर्थ ही मेरा अपमान कर रहे हो। अतः मैं पहले इसी के जीवन को समाप्त कर देती हूँ। यह कहकर वह सीता जी की ओर इस प्रकार झपटी, मानो आकाश में रोहिणी पर उल्का गिरी हो। यह देख रामचन्द्र जी का संकेत पाकर लक्ष्मण ने उसे नाक-कान से विहीन कर दिया। इस पर वह बिलखती और खून टपकाती हुई पास ही रहने वाले अपने भाई खर और दूषण के पास गई। बहन के अपमान का बदला लेने के लिए खर और दूषण ने सेना-सहित रामचन्द्र जी पर आक्रमण किया। परन्तु थोड़ी देर के भयंकर युद्ध में ही वीर रामचन्द्र के तीक्ष्ण बाणों ने खर, दूषण और उनकी समस्त सेना को धराशायी कर दिया।

खर और दूषण का सर्वनाश देखकर प्रतिहिंसा की आग से जलती हुई वह अपमानित राक्षसी अपने भाई लंका-नरेश रावण के पास गई और क्रोध कर बोली—

"करसि पान सोवसि दिन राति, सुधि न तोहिं सिर पर आराति"

तेरी बहन का यह हाल हुआ है। दण्डकारण्य में भाई खर और दूषण समेत तेरी सारी सेना का सत्यानाश होगया है, पर तुझे कोई खबर ही नहीं।" यह सुनकर रावण का क्रोधानल सहसा प्रदीप्त हो उठा, क्रोध से काँपता हुआ वह बोला—"कहो, किसने तुम्हारी यह दशा की है किसने वीर खर और दूषण की हत्या की है।" शूर्पणखा बोली—"पिता द्वारा निर्वासित अयोध्या के महाराज दशरथ के दो पुत्र तापस-वेश में दण्डकारण्य में रहते हैं। उनके साथ एक ऐसी सुन्दर रमणी है जिसके चरणों की भी तुलना तुम्हारे रनिवास की कोई सुन्दरी नहीं कर सकती। मैंने सोचा कि ऐसी अनिंद्य-सुन्दरी त्रैलोक्य-विजयी रावण के लिए ही उपयुक्त है। अतः मैं इस इच्छा से उनके पास गई, तब छोटे भाई

लक्ष्मण ने मुझे इस तरह विद्रूप कर दिया। अच्छा यह होगा कि तुम उस सुन्दरी को अपने भवन में ले आओ। रामचन्द्र उसके वियोग में सूखकर स्वयं ही मर जायँगे। इस तरह साँप भी मर जायगा, लकड़ी भी न टूटेगी।

प्रतिहिंसा और वासना से अंधा रावण तत्क्षण ही अपने पुष्पक विमान में बैठकर मारीच के पास पहुँचा, और उससे उसने अपनी सब गुप्त योजना कही। मारीच ने रावण को उस योजना से पराङ्मुख करने का पर्याप्त प्रयत्न किया। परन्तु जब रावण ने उसे यह कहा कि यदि तू मेरे काम में सहायक न होगा तो पहले तेरा ही नाश करके फिर मैं अपना इष्ट सिद्ध करूँगा, तब मारीच को विवश हो उसका साथ देना पड़ा। तत्पश्चात् दोनों पुष्पक-विमान पर चढ़कर रामचन्द्र जी की पर्णकुटी के पास दण्डकारण्य पहुँचे। वहाँ मारीच सुवर्ण-मृग का वेष धर पर्णकुटी के सामने इधर-उधर इठलाता हुआ पौधों की कोमल पत्तियाँ खाने लगा। और रावण वहीं छिपकर बैठ गया। सीता जी उसे देखकर मोहित हो गईं और रामचन्द्र जी से बोलीं—"आर्यपुत्र! इस सुन्दर मृग को पकड़ कर मुझे ला दीजिए। अहा, वह कैसा सुन्दर है, वह चित्र-विचित्र रँगवाला मृग मेरे चित्त को चुराये जा रहा है। यदि इसे जीता पकड़ सकें तब तो अत्युत्तम होगा अन्यथा सुवर्ण रोम-युक्त यह मृगछाला हमारे बैठने के लिए अनूठी वस्तु होगी। प्राणप्रिया की प्रसन्नता के लिए राम धनुष लेकर मृग का पीछा करने चल दिये, और लक्ष्मण को सीता की रखवाली का आदेश दे गये।

रामचन्द्र को देख कर वह मृग कभी पास आता और कभी छलाँग मारकर दूर भाग जाता। रामचन्द्रजी भी हरी-हरी दूब

दिखाकर उसे फँसाने का प्रयत्न करते हुए उसका पीछा कर रहे थे। परन्तु उसे अधिक दूर चला गया देख राम ने एक तीक्ष्ण वाण धनुष पर चढ़ाकर छोड़ा। वाण लगते ही माया-मृग राक्षस के रूप में परिवर्तित होकर और 'हा लक्ष्मण' 'हा सीते' की पुकार कर भूमि पर गिर पड़ा। राक्षस के इस मायावी काण्ड को देख रामचन्द्र जी अत्यधिक आश्चर्यित हुए और भयवश शीघ्र हो कुटी की ओर बढ़े।

रामचन्द्र जी के लौटने में इतना विलंब देखकर और 'हा लक्ष्मण' 'हा सीते' की पुकार सुनकर सीता जी ने समझा कि निश्चय ही वे किसी विपत्ति में फँस गये हैं। अतः वे अत्यधिक व्याकुल हो गई और स्थिर-बुद्धि लक्ष्मण से बोलीं—"तुम्हारे भाई पर विपत्ति आई है और तुम इस तरह निश्चिन्त बैठे हो? जाओ, उनकी सहायता करो।" पर श्रीराम की आज्ञा स्मरण करके लक्ष्मण अपने स्थान से न उठे और बोले—"भाभी, तुम धैर्य धरो, भाई रामचन्द्र जी अभी क्षण भर में आये जाते हैं।"

सीता जी पति पर आई विपद् की आशंका से व्याकुल और विवेचना-शक्ति रहित हो गई थीं। अतएव उनका हिताहित का ज्ञान नष्ट हो गया था। लक्ष्मण को अविचलित देखकर उनके मन में संदेह होने लगा, और उनके नेत्र क्रोध से लाल हो गये। और वह सरला मधुर भाषिणी सीता वज्र से भी कठोर वचनों में बोलीं—"अनार्य, नृशंस, कुलाधम, मैं जानती हूँ तुम गुप्तरीति से अपने मन में मेरी प्राप्ति की इच्छा करके अथवा भरत की सहायता से षड्यंत्र रचकर अपने बड़े भाई की मृत्यु की राह देख रहे हो। पर याद रखना मैं तुम्हारी इस इच्छा को कभी पूर्ण न होने दूँगी, क्यों कि आर्यपुत्र के बिना मैं इस पृथ्वी पर एक पल भी जीती नहीं रह सकती।"

सीता जी के मुख से ऐसी बातें निकलते देख लक्ष्मण आश्चर्य-चकित होगये। वे इसे अदृष्टलिपि का विधान समझ कर बोले—"माता, मैं ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा को विचार कर आपको अकेला न छोड़ना चाहता था, परन्तु आज आपने स्त्रीजनोचित जो वचन कहे हैं उनसे विद्ध होकर मैं जाता हूँ और आपकी मति-विभ्रमता को देखकर अनुमान करता हूँ कि शीघ्र ही कोई नवीन संकट आने वाला है।" इस प्रकार कह कर वे अपना धनुष बाण लेकर चल दिये।

ज्योंही लक्ष्मण बाहर गये त्योंही अवसर पाकर त्रिदण्डी संन्यासी का भेष धारण किये हुए रावण कुटी के द्वार पर आया।

कुटी के द्वार पर तेजःपुञ्ज संन्यासी को आया देख सीता ने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और बैठने को आसन दिया। रावण उनके पूर्णेन्दु-सदृश मुख को देख कर आश्चर्य-चकित होकर बोला—"हे रमणी, रति के सदृश सौन्दर्य वाली तुम कौन हो, क्या तुम लक्ष्मी हो अथवा स्वर्गीय कोई अप्सरा हो, और इस निर्जन वन में क्यों आई हो!"

सीता जी ने कहा—"महाराज मैं अयोध्या नरेश महाराज दशरथ की पुत्रवधू और मिथिला-नरेश राजर्षि जनक की कन्या हूँ। सौतेली माता के आग्रह से मेरे पति अपने पिता द्वारा चौदह वर्ष के लिए वन में निर्वासित किये गये हैं। उनका साथ देने के लिए मैं और मेरा एक देवर भी स्वेच्छा से इस वन में आये हैं। अभी थोड़ी देर में मेरे पतिदेव और देवर आते होंगे तब तक आप प्रतीक्षा करें, और अपना परिचय दें।"

रावण ने उत्तर दिया—"इस चराचर सृष्टि के जड़ पदार्थ, देव, असुर तथा मनुष्यादि सारे प्राणी जिसके नाम से काँपते

हैं, वही मैं राक्षसों का अधिपति रावण हूँ। कौशेय वस्त्र धारण किये हुए तुम्हारी इस स्वर्ण-तनु को देख कर मोहित होगया हूँ। इसलिए चलो मैं तुम्हें अपने महल में ले चलूँ। सारे जगत् की उत्तमोत्तम और बलपूर्वक लाई हुई स्त्रियों में मैं तुम्हें पटरानी बनाऊँगा। समुद्र से परिवेष्टित, त्रिकूट पर्वत के तुंगशृङ्ग पर स्थित सुवर्णमयी लंका के सुन्दर रमणीय उपवनों में जब तुम विहार करोगी तब अयोध्या अथवा इस जनस्थान का तुम्हें स्मरण भी न होगा।

यह सुन सीता जी मारे क्रोध के आगबबूला हो गई और उसे धिक्कार कर बोली—अरे मूर्ख पर्वत के सदृश निष्कंप, इन्द्र के समान पराक्रमशाली तथा सागर के सदृश अक्षोभ राघव की मैं पतिव्रता भार्या हूँ। सिंह के सदृश गति, पराक्रम और क्रोध वाले उन महाबाहु, पूर्णचन्द्रानन दाशरथि की मैं प्रिय कान्ता हूँ। अरे गीदड़, सिंह-वधू की अभिलाषा करते हुए तुझे डर नहीं लगता। मूर्ख, मुझे पाने की इच्छा करना मानों भूखे सिंह के मुँह में घुसना या मंदर पर्वत को हाथ से उठाने का प्रयत्न करना अथवा भयंकर कालकूट विष को पीकर सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना है। भला कहाँ राघव और कहाँ तू! अरे सिंह और लोमड़ी, हाथी और बिल्ली, चंदन और कीचड़ में जितना अंतर है उतना ही उनमें और तुझ में है। जो तुझे प्राण प्यारे हैं तो शीघ्र यहाँ से भाग जा। एक बार शची का अपमान करके भी बचा जा सकता है, पर मेरा अपमान करके मेरे महाबली स्वामी के क्रोधानल से निस्तार पाना सहज नहीं है।"

यह सुन कर रावण बोला—"सीता, तू मेरे पराक्रम को नहीं जानती। मैंने अपने भाई कुबेर को जीत कर उससे सुन्दर पुष्पक

विमान छीन लिया है, वायु, सूर्य तथा चन्द्रादि ग्रह-गण मेरे वश-वर्ती हैं। फिर वह तुच्छ राम किस खेत की मूली है। वह तो पिता द्वारा निर्वासित एक सामान्य मनुष्य है। भाग्योदय के इस अवसर को न त्याग।" यह सुन कर सीता के नेत्र क्रोध से लाल हो गये और अत्यंत रोषयुक्त स्वर से वह बोली—"अरे दुष्ट, वैश्रवण का भाई कहला कर पर-स्त्री पर इस प्रकार कुदृष्टि डालता है। ऐसा प्रतीत होता है शीघ्र ही तेरे इस बुरे आचरण से सारे राक्षस-कुल का नाश होगा।"

सीता के परुष वचन सुन कर रावण क्रोधोन्मत्त हो उठा। राम-लक्ष्मण कहीं शीघ्र न आजायँ, यह सोच कर उसने तुरन्त छद्म वेश का परित्याग कर दिया। फिर वह दुर्दान्त पर्वत-प्राय राक्षस सीता जी से बोला—अरी उन्मत्त सीता, अब तू मेरे पराक्रम को देख। यों कहकर वह पापात्मा देवी सीता को बल-पूर्वक उठा कर आश्रम से बाहर निकाल लाया और रथ पर बिठाकर आकाश-मार्ग से चलने लगा। सीता जी नाना प्रकार से विलाप करती हुई पुकार रही थीं—

"हा जगदीस देव रघुराया, केहि अपराध बिसारेहु दाया।
आरतिहरन सरन सुखदायक, हा रघुकुल-सरोज-दिननायक।
हा लछमन तुम्हार नहिं दोषा, सो फल पाउँ करिहेउँ रोषा।
कैकेयी मन जो कुछ रहेऊ, सो विधि आज मोहि दुख दयेऊ।
विपति मोर को प्रभुहिं सुनावा, पुरोडास चह रासभ खावा।

नारी-कंठ-विनस्सृत आर्तनाद को सुन कर दण्डक-वनवासी पलित-केश, वृद्ध जटायु ने जब आकाश-पथ से सीता सहित रावण को जाते देखा तो उसे ललकार कहा—अरे दुष्ट ठहर, मैं अभी सती पर किये गये अपमान का तुझे मजा चखाता हूँ। यद्यपि

मैं बूढ़ा हूँ और तू तरुण, रथारूढ़ तथा कवच खड्गधारी है तथापि याद रख वैदेही को सरलता से तुझे न ले जाने दूँगा ऐसा कहकर जटायु पूर्ण-शक्ति से रावण पर झपटा परन्तु शीघ्र ही रावण के प्रबल असि-प्रहार से क्षत-विक्षत तथा मृत-प्राय होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। तब रावण निश्शंक हो सीता जी को लेकर दक्षिण दिशा की ओर बढ़ा। निरुपाय सीता वृक्ष, नदी आदि को पुकार कर कह रही थीं कि तुम मेरे वीराग्र-गण्य पतिदेव से कहना कि दुष्ट रावण मुझे हरकर लिये जाता है। और फिर अन्य उपाय न देख वे अपने आभरण पृथ्वी पर गिराने लगीं। जिससे यदि कहीं रामचन्द्र जी उधर आवें तो वे उनके दृष्टि-पथ में पड़ जायँ और वे उनका कुछ पता पा सकें। इधर रावण शीघ्र ही पंपा सरोवर के ऊपर से होता हुआ, नदियों और पर्वतों को पीछे छोड़ता हुआ, धनुष से छूटे हुए बाण के सदृश वेग से बात की बात में समुद्र को लाँघकर लंका को जा पहुँचा और सीता जी को अपना नन्दन-कानन से भी अधिक सुन्दर अन्तःपुर, अतुल ऐश्वर्य, अमित और अजेय शक्ति दिखाकर फुसलाने की चेष्टा करने लगा। वह बोला—"सीता जिसके कटाक्ष मात्र से त्रैलोक्य क्षुब्ध हो जाता है, जो बाईस कोटि राक्षसों का अधिपति है, वह रावण अपना सिर तुम्हारे स्निग्ध और कोमल चरणों पर रखता है। तुम्हारा अश्रु-खिन्न मुखपंकज मेरे अंतस्तल को पीड़ित कर रहा है। मैंने अभी तक किसी रमणी से प्रेम की याचना नहीं की, अतः तुम प्रसन्न हो।" कामातुर रावण की इन चाटूक्तियों को सुनकर सीता जी का सारा शरीर घृणा सूचित करने लगा; उन्होंने अपने सामने वस्त्र लगाकर बड़े दुःख से उत्तर दिया—"रावण ज्ञात होता है तेरी मृत्यु बहुत ही निकट आ गई है, तू देवासुरों से भले ही अवध्य

होगा, पर रघुनन्दन की क्रोधाग्नि से तू और तेरी स्वर्ण की लंका जल कर भस्म हो जायगी।" सीता जी के इन वचनों को सुनकर रावण क्रोध से तप्त होकर बोला—"सीता, मैं तुझे एक वर्ष की अवधि देता हूँ, यदि इस अवधि में तू मेरे अधीन न हुई तो तेरे जीवन की रक्षा न हो सकेगी।" फिर राक्षसियों से बोला—"इसे अशोक वन में ले जाकर रखो और छल से बल से अथवा मीठे वचनों से जिस प्रकार भी हो मेरी वशवर्त्तिनी बनाओ। रावण की आज्ञा होते ही सैकड़ों राक्षसियाँ सीता जी को घेर कर अशोक वन में ले गई।

इधर जब माया-मृग को मारकर रामचन्द्र जी लौट रहे थे तब लक्ष्मण को उधर ही आते देखकर उन्हें यह सन्देह होगया कि कोई न कोई अनहोनी बात हुई है। वे शीघ्र ही अपनी कुटी को लौटे और वहाँ सीता को न पाकर इधर-उधर खोजने लगे, पर जब सीता जी का कुछ पता न लगा तब वे नाना प्रकार से विलाप करते हुए इधर-उधर भटकने लगे।

थोड़ी दूर पर उन्होंने जटायु को कराहते पाया। शोक-विह्वल राम और लक्ष्मण को देखकर जटायु बोला—"राक्षसराज रावण रघुकुल-कमलिनी सीता को हर कर दक्षिण दिशा की ओर ले जा रहा था, और जब मैंने सीता जी को छुड़ाने का प्रयत्न किया, तो मेरी यह दशा कर गया है। मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था कि किस प्रकार यह समाचार सुना सकूँ। अब मैं विदा होता हूँ।" यह कह उसने सदा के लिये आँखें मूँद लीं। उस परोपकारी मित्र का यथाविधि अन्तिम संस्कार कर राम और लक्ष्मण आगे बढ़े।

खोजते-खोजते वे ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ किष्कंधाधिपति बाली का निर्वासित भाई वानर जाति का राजा सुग्रीव

अपनी थोड़ी सी सेना-सहित रहता था। रामचन्द्र जी ने बाली को मार कर उसे किष्कंधा का राज्य दिला देने का प्रण किया और उसने सीता जी की खोज कराने का वचन दिया। सुग्रीव ने राम के भरोसे अपनी छोटी सी सेना लेकर ही किष्किन्धा पर चढ़ाई कर दी और जब सुग्रीव और बाली परस्पर द्वन्द्वयुद्ध कर रहे थे तब रामचन्द्र जी ने एक तीक्ष्ण बाण द्वारा बाली का काम तमाम कर दिया। सुग्रीव किष्किंधा का राजा हुआ और उसने अपनी सारी सेना सीता जी को खोजने के लिए भेज दी। उनमें से जाम्बन्त, अंगद, हनुमान आदि अपने साथियों सहित ढूँढते-ढूँढते दक्षिण दिशा के समुद्र के तट पर पहुँचे वहाँ से आगे अकेले महावीर हनुमान ही समुद्र को तैर कर लंका में पहुँचे।

स्वप्न में दिखाई देने वाले यमराज के दूतों के समान भयंकर राक्षसियों द्वारा घिरी हुई सीता देवी को प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर अशोक-वन में रहते-रहते दस मास व्यतीत हो गये थे। राम के विरह में उनका शरीर कंकाल-मात्र रह गया था। धूलि-धूसरित वस्त्रों में उनका सहज-सौन्दर्य राहुग्रसित चन्द्रमा की समता धारण कर रहा था। रात-दिन राम-नाम का जाप ही उनका कर्म रह गया था। परन्तु इतने लम्बे समय तक पति और देवर का कोई समाचार न पाकर उन्होंने सोचा कि शायद वे इस लोक में न रहे हों। इस अनिष्ट विचार के आते ही वे सिहर उठीं। पर फिर सोचा कि यदि वे जीवित होते तो क्या मेरी खोज खबर न लेते। कभी वह स्वप्न देखतीं कि राम उसके उद्धार के लिए लंका पर चढ़ आये हैं परन्तु फिर वह स्वप्न निराशा के घने अंधकार में विलीन हो जाता। एक वर्ष की अवधि में केवल दो मास का समय शेष है। वह सोचती तो क्या अवधि समाप्ति

से पहले ही प्राणान्त कर दूँ। फिर यह विचार कर कि 'जीवन्नरो भद्र शतानि पश्यति' वह आत्महत्या न करती। आशा होती कदाचित् रामचन्द्र जी इस समय में भी आ जायँ। परन्तु यदि वे न पहुँचे तो उनके चरण-कमल को हृदयासन में धारण कर परम-धाम सिधारने का सीता जी ने निश्चय कर लिया।

लंका में पहुँच कर हनुमान ने इधर-उधर सब जगह सीता की खोज प्रारम्भ की। रात्रि के समय रावण के अन्तःपुर में सोती हुई सब स्त्रियों को वे देख गये, पर कहीं श्री रामचन्द्र जी द्वारा बताई गई लक्षणों वाली देवी सीता के दर्शन न हुए। वे सोचने लगे कि क्या समुद्र को लाँघने का परिश्रम व्यर्थ ही जायगा। कहीं रावण से त्रस्त होकर सीता जी ने अपने प्राण तो नहीं त्याग दिये। फिर सोचा कि एक वार और यत्न करूँ। उन्होंने समस्त लंका को छान डाला, अंत में उन्हें अशोक वन दिखाई पड़ा। वहाँ पर उन्हें अनेक प्रकार के वृक्ष दिखाई दिये। उस वन में उत्तम सुगन्धित जल से युक्त नाना प्रकार के बापी, कूप तथा तड़ाग उन्होंने देखे। जिनकी वालू मुक्ता-प्रवाल युक्त थी। पानी के नीचे फर्श स्फटिक का बना हुआ था। चंपक, उद्दालक, सिंधुवार और कोविदार के पेड़ निरंतर पुष्पों को खिलाकर उस वन को समृद्ध कर रहे थे। उधर से देखते-देखते वे एक कृत्रिम पर्वत के पास पहुँचे जिसके अनेक तुंग शृङ्ग थे। हनुमानजी को उच्चगिरि-शृङ्ग पर एक गगन-चुम्बी शिंशपा वृक्ष दिखाई दिया। उसी पर चढ़ कर वे चारों ओर देखने लगे, तब उन्हें पास ही अशोक के एक वृक्ष के नीचे भयंकर राक्षसियों से घिरी, मलिन वस्त्र पहने, पीत और कृशाङ्गी, दीर्घ श्वास लेती हुई एक देवी दिखाई दी। उसके काले काले मलिन बाल पीछे पृथ्वी पर

पड़े हुए थे। वह स्वयं भी पृथ्वी पर अर्धशयित थी। पास पहुँच कर उसकी सुन्दर और विशाल आँखें, सोने के सदृश अपूर्व कान्ति, पूर्ण चन्द्रमा के समान वदन, सुन्दर और सरल नासिका आदि सौंदर्य-चिह्न देखकर हनुमान जी का विश्वास और भी दृढ़ हो गया। इतने में कुमुद-खंड के सदृश चन्द्रमा का शुभ्र खंड क्षितिज पर चढ़ आया। इससे सीता जी का स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगा। अब वे अपने भावी कार्यक्रम का निश्चय करने लगे।

इतने में उन्हें कई सुन्दरियों से परिवेष्टित एक विशालकाय पुरुष बड़े ठाट-बाट से उधर आता दिखाई दिया। उसे देखते ही घोर आँधी से प्रताड़ित होकर काँपने वाले कदली वृक्ष के समान असहाय सीता जी काँपने लगीं और संकुचित होकर बैठ गईं। मदान्ध रावण धीरे से उनके सामने जाकर और बड़ी मीठी-मीठी बातें बना कर कहने लगा—"कमलनयनि, मुझे देखते ही तुम क्यों ऐसी संकुचित हो जाती हो। जैसे तुम मेरा मुंह देखना भी नहीं चाहती। तुम मेरी ओर से किसी प्रकार का भय न करो। यदि तुम्हारा मुझ पर प्रेम न होगा तो मैं तुम्हें स्पर्श तक नहीं करूँगा। मैं तो केवल तुम्हारे प्रेम की भिक्षा माँगने आया हूँ। इन धूलि-धूसरित मलिन वस्त्रों को तुम कब तक धारण किये रहोगी। अब राम की आशा छोड़ो। पता नहीं वह पिता द्वारा निर्वासित अधम तापस जीता भी है या नहीं। यदि जीवित भी हो तो वह मुझ से तुमको छुड़ा नहीं सकता। इसलिए तुम मेरे सहित त्रैलोक्य का राज्य करो।

कुछ देर सोच विचार कर वह सती-साध्वी अपने सामने तिनका रखकर बोली—"रावण, तू परस्त्री की इच्छा करता है, क्या तुझे इसमें लज्जा नहीं आती। यदि तू अपना भला चाहता है तो

मेरी ओर से अपने मन को हटा कर अपनी स्त्रियों पर ही प्रेम कर। किंचित् विचार कर; यदि तेरी ही स्त्री पर ऐसी आपत्ति आती तो तेरे हृदय की क्या दशा होती। जिस प्रकार पापी मनुष्य को सिद्धि प्राप्ति की आशा ही न करना चाहिये, उसी प्रकार तुझे भी मेरी प्राप्ति की इच्छा का परित्याग कर देना चाहिये। ध्यान रख यदि राजा ही आत्म-संयम को छोड़कर अन्याय करने लगे तो उसके साथ ही उसका समृद्ध राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है। मुझे मालूम पड़ता है कि तेरे अपराध के कारण शीघ्र ही सुवर्ण-मयी लंका का नाश होगा।"

सीता जी के ये कठोर वचन सुन कर रावण क्रुद्ध हो कर बोला— "स्त्रियों को जितना अधिक समझाया जाय, उतना ही वे अधिक सिर पर चढ़ती हैं। यदि मेरा तुझ पर सच्चा हार्दिक प्रेम न होता, तो इसी समय तेरा वध कर देता। मैथिलि, अवधि पूरी होने में अब केवल दो मास ही शेष रह गये हैं, यदि तू तब तक मेरी वशवर्त्तिनी न हुई तो मेरे रसोइये तेरी देह के टुकड़े-टुकड़े करके तेरे माँस का मेरे लिए उपहार बना कर परोसेंगे। यह सुन क्रोधाविष्ट सीता बोली—"दुष्ट तेरा कोई भी बुद्धिमान संबंधी नहीं जो तुझे इस पाप से परावृत्त करने का प्रयत्न करे। तू अपने को योद्धा समझता है, अपने बल पर अभिमान करता है, यदि तुझमें साहस था तो आर्यपुत्र की अनुपस्थिति में तू छद्म-वेश धरके क्यों आया था। याद रख आर्यपुत्र को मेरा पता मिलते ही फिर तेरी कुशल नहीं। तू कुल सहित भस्म हो जावेगा।"

सीता के इन वचनों को सुन रावण क्रुद्ध हो अपनी लाल लाल आँखें फाड़कर बोला—"उस भिखमंगे राम पर मोहित होकर तूने जो कठोर शब्द कहे हैं उसका मज़ा अभी तुझे राक्षसियाँ चखाती हैं।

फिर राक्षसियों को देखकर बोला—"देखो इसे डरा धमका कर इतना जर्जर कर दो जिससे इसका यह सारा कोरा अभिमान नष्ट हो जाय।" इतने में रावण की धान्यमालिनी नामक सुन्दरी स्त्री रावण से बोली—"महाराज, आप व्यर्थ ही इस मानुषी के पीछे पड़े हैं, थोड़े दिन में अपने आप यह मान जायगी। चलिए अब वहाँ से चलें।" यों कहकर वह रावण का हाथ पकड़ कर उसे अपने साथ ले वहाँ से चल दी।

रावण के चले जाने पर राक्षसियों ने सीता जी को सताना शुरू किया। परन्तु शीघ्र त्रिजटा और विभीषण की स्त्री सरमा वाटिका-विहार के बहाने से सब राक्षसियों को लेकर अलग चली गई। सीता जी शून्य-दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखती हुई अनवरत अश्रुधारा बहाने लगीं।

राक्षसियों को दूर गया देख अवसर पाकर हनुमान जी उसी वृक्ष के ऊपर पहुँच गए और वहाँ बैठकर सीता जी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए रामचन्द्र जी की कीर्ति का वर्णन करने लगे। यह सुनकर चकित हो सीता जी वृक्ष की ओर ऊपर देखने लगीं तो उन्होंने हनुमान को वहाँ बैठे देखा। वे उसे देख बहुत विस्मित हुई और सोचने लगीं क्या मैं स्वप्न देख रही हूँ। फिर यह समझकर कि कदाचित् यह भी छद्मवेशी राक्षस ही हो वे मूर्च्छित हो गिर पड़ीं। यह देख हनुमान उनके पास की शाखा पर आये और बोले—देवि मैं श्रीरामचन्द्र जी का दूत हूँ और उनके आदेश से आपको खोजता हुआ यहाँ पहुँचा हूँ। हे वैदेही, प्रभु श्रीरामचन्द्र जी सकुशल हैं। उन्होंने आपकी कुशल पूछी है और उनके अनुज तेजस्वी लक्ष्मण ने आपको प्रणाम कहा है। यों कहकर उनको प्रणाम करने के लिए आगे बढ़े तो

सीता जी को फिर यही भ्रम हुआ कि यह रावण ही है और वे बोलीं—"कपटी रावण इस प्रकार छद्म-वेश धारण कर मुझे कष्ट देना तुझे नहीं सोहता। तू एक वार छद्म-वेश धारण कर मुझे चुरा लाया है, अव मुझे तुझ पर विश्वास नहीं, मैं तुझसे वोलूँगी तक नहीं।" उनके इस मति-भ्रम को देख हनुमान जी को वहुत विषाद हुआ। उन्होंने फिर हाथ जोड़कर मधुर शब्दों में प्रार्थना की—"देवि, मैं मायावी रावण नहीं, अपितु रामचन्द्र जी का दूत हूँ। इस वात का आपको विश्वास दिलाने के लिए श्रीरामचन्द्र जी ने मुझे यह मुद्रिका दी है।" यह कह कर हनुमान जी ने राम-नाम अंकित वह मुद्रिका सीता जी को दे दी। पतिदेव की मुद्रिका को देखकर उन्हें इतना आनन्द हुआ कि मानों उनकी पति से ही भेंट हो गई है।

क्षणभर के लिए उनका प्रफुल्ल सुन्दर मुख, और आरक्त शुभ्र विशाल नेत्र राहु से मुक्ति पाने वाले चन्द्रमा के समान दिखाई देने लगे। वे हनुमान को धन्यवाद दे कहने लगीं—"बड़े हर्ष की वात है कि आर्यपुत्र कुशल से हैं तथा सौमित्र भी सानन्द है। परन्तु यदि वे दोनों सकुशल हैं तो समुद्र से घिरी इस सारी पृथ्वी को ही वे क्यों नहीं जला देते। क्या विश्रुतकीर्त्ति राघव ने मेरी स्मृति ही विसार दी है। क्या उन्हें दुष्ट रावण पर क्रोध नहीं आया। क्या वे मुझे इस वन्दी-गृह से छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे। क्या वे खरदूषण की तरह रावण की भी समाप्ति न कर देंगे। इस तरह सीता जी ने एक ही साथ हनुमान जी से अनेक प्रश्न किये। हनुमान ने उत्तर दिया—"देवि, यदि श्रीरामचन्द्र जी को आपके यहाँ आने का किंचिन्मात्र भी पता लग जाता तो अव तक वे आपका उद्धार कर चुके होते। अव वे शीघ्र ही सुग्रीव

की सेना के साथ लंका पर चढ़ाई करेंगे और राक्षसों का नाश कर आपका उद्धार करेंगे। रात-दिन आपका विरह उनको मलिन तथा दुखी कर रहा है। भोजन इत्यादि सबका वे प्रायः परित्याग कर चुके हैं। यह सुन सीता जी को हर्ष और विषाद दोनों ही हुए। वे हनुमान से बोलीं—"वत्स, तुम आर्यपुत्र से कह देना कि रावण ने मुझे केवल एक वर्ष का अवकाश दिया है, उसमें केवल दो मास शेष हैं, यदि इस अवधि के पूर्व वे न पहुँचे तो वे मुझे जीता न पायेंगे।" इस पर हनुमान ने कहा—"यदि ऐसा है तो आप मेरी पीठ पर बैठ जाइये, और मैं अभी आपको इन राक्षसों के कष्ट से छुड़ा देता हूँ। आप विश्वास रखिये कि ये राक्षस मेरा बाल भी बाँका न कर सकेंगे।"

सीता जी ने कहा—"वत्स एक तो इस कार्य में अत्यधिक संकट है। दूसरा पतिव्रता के लिए पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श करना भी उचित नहीं। रावण ने तो बल-पूर्वक मेरे शरीर को स्पर्श किया था, उसमें मेरा दोष नहीं था।"

हनुमान संतुष्ट होकर बोले—"माता! आपका कथन सर्वथा उपयुक्त है। मैं शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजी को जाकर आपका समाचार देता हूँ, और वे आपके उद्धार का पूरा प्रयत्न करेंगे। यदि आप हमारी इस भेंट के चिह्न-स्वरूप मुझे कोई वस्तु दें तो बड़ी कृपा होगी।"

इस पर सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी को देने के लिए अपने वस्त्र के एक छोर में बँधा हुआ दिव्य चूड़ामणि हनुमान जी को दिया और बोलीं—"हनुमान, तुम आर्यपुत्र को हर प्रकार से उत्साहित करके मुझे यहाँ से छुड़ाने का अवश्य प्रयत्न करना। अब मेरी चिंता तुम्हें ही है।" तब हनुमान जी ने उनकी इच्छा

को पूर्ण करने का वचन दिया, और उनको साष्टाँग प्रणाम करके उनसे विदा माँगने लगे। हनुमान जी को जाते देख सीता जी का दुःख फिर उमड़ आया और फिर वे हनुमान से कहने लगीं—"हनुमान, मेरी ओर से आर्यपुत्र को प्रणाम कहकर मुझे शीघ्र छुड़ाने की प्रार्थना करना।"

हनुमान उन्हें दुबारा प्रणाम कर और किसी प्रकार की चिंता न करने का आश्वासन देकर वहाँ से विदा हुए।

तत्पश्चात् लंका में इधर-उधर परिभ्रमण कर हनुमान समुद्र तीर पर पहुँचे और फिर तैर कर दूसरी ओर, जहाँ जाम्बवंत अंगद आदि वीर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वहाँ पहुँच गये। हनुमान के हर्षोत्फुल्ल मुख को देखकर सब को विश्वास हो गया कि वे सीता जी का पता लगा लाये हैं और उनसे सारा वृत्तान्त सुनकर प्रसन्न होते हुए वे सब वहाँ से विदा हो ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे।

हनुमान जी ने श्रीरामचन्द्र जी को सीता जी का दिया हुआ चूड़ामणि देकर सब वृत्तान्त कह सुनाया। सीता जी की कारुणिक दशा सुनकर रामचन्द्र जी को आँखों में आँसू आ गये। आँसुओं को पूँछकर उन्होंने सुग्रीव को शीघ्र ही सैन्य-संगठन कर प्रयाण करने के लिए कहा। कुछ ही दिन में वे दक्षिण तट पर समुद्र के किनारे पहुँच गये और समुद्र को पार करने का उपाय सोचने लगे।

५

इधर जब लंका-निवासियों को यह समाचार मिला, तो उनमें से कइयों ने रावण को समझाया और रावण के भाई विभीषण ने भी रावण को उस पाप का प्रायश्चित्त करने को कहा, पर मदोन्मत्त रावण ने विभीषण को पदाघात करके अपमानपूर्वक सभा से निकाल दिया। अपमानित विभीषण रामचन्द्र जी के पास उस

पार पहुँचा। रामचन्द्र ने उसे लंका का राज्य देने की प्रतिज्ञा की। फिर नल तथा नील की चतुरता से सागर पर सेतु बँधा, जिसके द्वारा सारी सेना सहित रामचन्द्र लंका पहुँचे। तदनन्तर विभीषण की सम्मति से तथा भयंकर जीवघात से बचने के लिए रामचन्द्र जी ने रावण को समझाने के लिए राजकुमार अंगद को दूत बना कर भेजा। अंगद ने रावण को बहुत समझाया कि वह सीता जी को लौटा दे पर जब रावण किसी प्रकार न माना तब विवश हो युद्ध प्रारम्भ किया गया। बड़ा भयंकर युद्ध ठना। ऐसा युद्ध कदाचित् उससे पहले कभी न हुआ होगा। कई दिन तक भीषण युद्ध हुआ। वीरों के रक्त की नदियाँ बहने लगीं। रणस्थल मृत देहों से परिपूरित हो गया। रावण की सेना के बड़े-बड़े योद्धा एक एक कर परमधाम सिधारे। रावण का विशाल-काय भाई कुम्भकर्ण, पुत्र इन्द्र-जित् मेघनाद राम और लक्ष्मण के बाणों से मारे गये। अंतमें क्रुद्ध रावण युद्ध-भूमि में आया और उसके तीक्ष्ण शस्त्राघात से घायल होकर वीर लक्ष्मण मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े। यह देख रामचन्द्र अत्यधिक कारुणिक विलाप करने लगे—

सुत, वित, नारि भवन परिवारा, होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।
अस विचारि जिय जागहु ताता, मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।
जैहों अवध कवन मुँह लाई, नारि-हेतु प्रिय बंधु गँवाई।
बरु अपजस सहतेहुँ जग माँही, नारि-हानि विसेष क्षति नाहीं।
सौंपेसि मोहिं तुमहिं गहि पानी, सब विधि सुखद परम हित जानी।
उत्तर काहि देहों का जाई, उठि किन मुहिं समझावहु भाई।

रामचन्द्र जी का यह करुण-रुदन सुन विभीषण नगर से राजवैद्य सुषेण को बुला लाए। वैद्यराज के कहने से हनुमान गिरि

शिखर से संजीवनी बूटी ले आये, जिससे लक्ष्मण जी फिर जीवित हो उठे। तब रामचन्द्र जी की जान में जान आई।

फिर दूसरे दिन राम-रावण युद्ध प्रारंभ हुआ। यही अंतिम युद्ध था। इसकी भयंकरता का वर्णन करना कठिन है। बस राम रावण का युद्ध राम-रावण के समान ही कहा जा सकता है। अत्यन्त घोर युद्ध के अनन्तर रामचन्द्र जी के तीक्ष्ण और मर्मभेदी बाणों से रावण क्षत-विक्षत हो कर भूमि पर गिर पड़ा। और थोड़ी ही देर में उसने इहलोक-लीला सँवरण कर दी। विभीषण को त्रैलोक्य-विजयी, ज्येष्ठ भ्राता रावण की मृत्यु से अत्यधिक शोक हुआ। परन्तु अंत में रामचन्द्र जी के कहने से यथारीति उसकी अंत्येष्टि क्रिया कर उसने शांति प्राप्त की। इस तरह भयंकर युद्ध की समाप्ति हुई और अत्याचारी का अंत हुआ। त्रिभुवन ने देखा कि पतिव्रता के आँसू व्यर्थ ही पृथ्वी पर नहीं गिरते।

अब श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से हनुमान रावण वध का संवाद लेकर सीता जी के पास पहुँचे। हनुमान के मुख से अत्याचारी की मृत्यु का शुभ-संवाद सुनकर सीता जी बोलीं—"वत्स, आज तुमने जो शुभ-संवाद आकर मुझे सुनाया है उसके लिए त्रिभुवन का राज्य भी यदि मैं तुम्हें दे सकती तब भी वह उसका पूरा बदला न कहा जा सकता। परन्तु इस समय केवल हार्दिक आशीर्वाद को छोड़कर और कोई पुरस्कार देने योग्य वस्तु मेरे पास नहीं है।" हनुमान जी ने उत्तर दिया—"माता, आपका आशीर्वाद ही मेरे लिए त्रिभुवन के राज्य से अधिक बहुमूल्य है। हाँ, मेरी एक प्रार्थना है, जिन राक्षसियों ने आपको विविध प्रकार कष्ट से दिये हैं, मैं उनको उचित दण्ड देना चाहता हूँ। उनके पाशविक आचरण को देख उन्हें मारने को दिल करता

है।" यह सुनकर सीता जी ने दयापूर्वक कहा—"न वत्स, ऐसा न करना; वे तो राजा की आज्ञानुवर्त्तिनी थीं। उनका इसमें क्या दोष ? वे तो पराधीन थीं। यह सुनकर हनुमान जी की आँखें खुलीं। उन्होंने अपने कथन के लिए क्षमा माँगी। अन्त में जब वे विदा होने लगे, तब सीता जी ने कहा—"वत्स, तुम प्रभु के चरणों में मेरा प्रणाम एवं लक्ष्मण और अन्यान्य वीरों को आशीर्वाद कहना और अतुल पराक्रमी प्रभु की सेवा में निवेदन करना कि मैं शीघ्र ही उनके चरणों का दर्शन करना चाहती हूँ; अब और क्षण भर का विलम्ब भी सह्य नहीं है।"

तब हनुमान शीघ्र ही रामचन्द्र जी के शिविर में पहुँचे, और उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"जिनके लिए आपने इतना असाध्य कार्य किया है, वे शोकमूर्त्ति देवी आपके दर्शन करना चाहती हैं।" हनुमान जी के यह वचन सुन रामचन्द्र जी अत्यन्त दुःखित हो गये। वे कुछ क्षण मौन रहकर फिर दीर्घ साँस लेते हुए चिंतित भाव से विभीषण से बोले—'बन्धु विभीषण, वैदेही को अशोक वन से यहाँ लिवा लाने का कार्य तुम्हें ही अपने ऊपर लेना होगा। जाओ, उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर शीघ्र ही यहाँ पर ले आओ।"

आदेश पाते ही विभीषण अशोक वन में पहुँचे, और सीता जी को शिविका में बिठाकर रामचन्द्रजी के शिविर की ओर चले। शिविर के पास पहुँचते ही विभीषण के चोबदार दर्शनोत्सुक भीड़ को हटाने लगे। तब श्रीराम जी ने किंचित् कुपित होकर कहा—"मेरे इन प्रिय बन्धुओं को क्यों व्यर्थ कष्ट देते हो, जिनके लिए इन्होंने अपने प्राण न्यौछावर किये हैं उनको इन्हें भी देख लेने दो और सीता जी को शिविका में से उतार कर पैदल ही यहाँ पर ले

आओ। आज्ञा पाते ही विभीषण सीता जी को पैदल ही सबके सामने श्रीराम जी के पास ले आये।

श्रीराम जी की उस समय की आज्ञा तथा उनकी भाषण शैली और मुख की मुद्रा को देखकर सब विस्मित हो रहे थे। इतने दिन बाद प्रियतमा को पाने पर भी श्रीराम जी के मुख पर प्रसन्नता का झलक न थी। अपितु दैन्य और रोष की लहरियाँ उमड़ रही थीं। यह देखकर सीता जी को अत्यन्त विषाद और भय हुआ। वे लज्जा और विनय से हाथ जोड़कर रामचन्द्र जी के पास खड़ी हो गईं।

तब श्री रामचन्द्र अपने हार्दिक भावों को प्रकट करते हुए बोले—"सीते! आज रणभूमि में शत्रु का सवंश नाश कर मैं तुम्हें वंदीगृह से छुड़ाकर यहाँ लाया हूँ। शत्रु का और अपने अपमान का मैंने एक साथ ही नाश कर दिया है। शूर पुरुष का जो कर्तव्य था, वही मैंने किया है। दुराचारी पर-पुरुष बलात् तुम्हें हर ले गया था। यह जो कलंक मेरे सिर पर लगा था उसे मैंने यथाशक्ति प्रक्षालित कर दिया है। दूसरों द्वारा अपमान किये जाने पर भी जो निर्वीर्य मनुष्य चुप रहता है, अपने तेज से उसका प्रतीकार नहीं करता उस क्षुद्र का जीवन ही व्यर्थ है। महावीर हनुमान, प्रेममूर्ति सुग्रीव, धर्मात्मा विभीषण तथा प्राण न्यौछावर करने को उद्यत इन वीर सैनिकों की सहायता से मैं इस असाध्य कार्य में सफल हुआ। पर सीते! तुम्हें स्मरण होना चाहिये कि यह भयंकर प्रयास तुम्हारे लिए नहीं किया गया वरन् मुझ पर तथा मेरे भुवन-विख्यात इक्ष्वाकु-कुल पर जो कलंक का टीका लगा था, उसके प्रक्षालन के लिए ही मैं और मेरे मित्र इस महायुद्ध में प्रवृत्त हुए थे। वह कर्तव्य शेष हो गया। तुमने इतने दिनों तक पर-गृह में

वास किया है, और इस काल में तुम स्वामी, पिता या अन्य किसी आत्मीय के देख-रेख में न थीं। विषयी रावण तुमको बुरी दृष्टि से देखता था, वह तुम्हें अपहरण करके लाया था, उस पापी ने तुम्हारे शरीर का स्पर्श किया था। अतः तुम्हारी शुद्धि के विषय में शंका करने के कई प्रबल कारण हैं। तुम्हें प्रत्यक्ष खड़ा देखकर मुझे किंचित् भी आनन्द नहीं होता, वरन् जिस प्रकार पीड़ित नेत्र वाले पुरुष को दीप-ज्योति असह्य प्रतीत होती है, वैसे ही तुम्हारा दर्शन मेरे लिए कष्टकर है। तुम यहाँ से चली जाओ, जहाँ चाहो चली जाओ। दशों दिशाएँ तुम्हारे लिए खुली हैं। मेरी ओर से तुम्हें पूर्ण स्वतंत्रता है। कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा जो महीनों तक पर-पुरुष के कारागृह में पड़ी स्त्री को स्वीकार करेगा। यों कह कर श्रीरामचन्द्र नीचे की ओर मुख करके मौन रह गये। वे हृदय के अन्तर्द्वंद्व को दबाने का प्रयत्न कर रहे थे।

श्रीरामचन्द्र जी के वज्र के समान कठोर वचनों को सुनकर सीता जी स्तंभित रह गईं, मानो उनपर वज्रपात हुआ हो। लज्जावती लज्जा के मारे मर-सी गई। समस्त सेना के सम्मुख स्वामी द्वारा इतना अपमान हुआ देख उन्हें ऐसा कष्ट हुआ मानो सहस्र बिच्छुओं ने एक साथ काटा हो। पर शीघ्र ही तेजस्विनी की महिमा एकदम प्रकाशित हो उठी। वे आँखें पूँछ कर बोली—"राघव, जिस प्रकार प्राकृत पुरुष अपनी प्राकृता स्त्री से अवमानना भरे वचन कहता है, आज आपने मुझे वैसे ही वचन कहे हैं। इक्ष्वाकु वंश की गौरव की रक्षा के लिए आपने इतना नर-संहार किया, परन्तु अपनी उस निरपराधिनी पत्नी को जिसने पतिदेवता के चरणों में ध्यान लगाये हुए ही गिन-गिन कर दिन विताये हैं, छोड़ कर क्या आप इक्ष्वाकु-वंश का गौरव बढ़ाया चाहते हैं। रावण

जब मुझे उठाकर लेगया था, उस समय उसका मुझे स्पर्श हुआ था, पर मैं उस समय परवश थी। केवल मेरा हृदय मेरे हाथों में था, वह सदा आपके चरण-कमलों पर मँडराता रहा है। उसमें कभी किसी परपुरुष का ध्यान भी नहीं आया। वर्षों तक आपका मेरा सहयोग रहा है, यदि तब भी आप मेरे हृदय को नहीं परख सके तो ज्ञात होता है कि मेरा सदा के लिए नाश हो गया है। जिस दिन आपके हृदय ने मेरे चरित्र पर शंका की, मेरी मृत्यु तो उस दिन ही हो गई। महाराज, यदि आप उस दिन ही मुझे त्याग देते और वीर हनुमान द्वारा उस दिन ही सूचित कर देते, जिस दिन वे प्रथम बार लंका में आये थे, तो मैं उसी समय उनके सामने अपने तुच्छ प्राण त्याग देती, और इन असंख्य वीरों के प्राणों को संकट में डालने की आवश्यकता न रह जाती। महाराज, आपने इस समय क्रोध के वशीभूत होकर उस पवित्र पाणिग्रहण, विधि को भी सर्वथा भुला दिया है। इतने दिन की मेरी भक्ति, मेरे प्रसिद्ध कुल और मेरे शील पर भी आपने ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार कहते हुए शोकावेग के कारण सीता जी का कंठ अवरुद्ध हो गया। वे अधिक कुछ न कह सकीं। फिर कुछ क्षण ठहर कर अपने आपको सँभाल कर वे अश्रु-पूर्ण नेत्रों से लक्ष्मण की ओर निहारकर बोलीं—'वत्स लक्ष्मण, एक दिन तुम्हें दुर्वाक्य कहे थे, अब तक मैं उनका फल पा रही हूँ। अब इस संकट से छुटकारा पाने का केवल एक उपाय ही शेष है, तुम ईंधन एकत्र कर चिता प्रज्वलित करो। मैं उसमें कूद पड़ूँगी, यदि मैं निष्पाप होऊँगी—शुद्ध होऊँगी, तो अग्निदेव मुझे न जलावेंगे। यदि मैं पापिनी होऊँगी, तो मेरे लिए इस कलंक-कालिमा को लेकर जल मरना ही उचित है।

इस दारुण आदेश को सुनकर लक्ष्मण जी ने कुपित और दीन दृष्टि से रामचन्द्र जी की ओर देखा। रामचन्द्र जी ने संकेत द्वारा अनुमति दे दी। सब उपस्थित पुरुष अवाक् थे। लक्ष्मण ने चंदन की चिता तैयार कर उसमें अग्नि-प्रदान किया। रामचन्द्र के क्रोध और अटल गांभीर्य को देख किसी को कुछ कहने का साहस न होता था। चिता के प्रज्वलित होते ही अधोवदन सीताजी श्रीराम चन्द्र जी की और चिता की परिक्रमा कर हाथ जोड़ कहने लगी—

जो मन-कर्म-वचन उर माहीं, तजि रघुवीर आन गति नाहीं।
तौ कृसानु सबकी गति जाना, मो कहँ होहु, स्रीखंड समाना।*

तत्पश्चात् निर्भय हृदय से साध्वी सीता ने प्रज्वलित चिता में प्रवेश किया। रामचन्द्र निर्निमेष नयनों से सीता के इस अलौकिक कृत्य को देखने लगे। विभीषण सुग्रीव आदि उपस्थित व्यक्तियों के मुख से 'हाय-हाय' शब्द निकल पड़ा। कोई आँख ऐसी न थी, जो अश्रुवर्षा न कर रही हो। परन्तु एक क्षण में ही सब विस्मित हो गये। सती के वचनों के अनुसार उसका स्पर्श पाकर दारुण पावक सचमुच ही श्रीखंड के समान शीतल हो। गया। वह प्रज्वलित अग्नि सती के केश तक को न जला सकी। सीताजी की पवित्रता का प्रमाण जगत भर में प्रकट हो गया। कुछ क्षण आश्चर्य-चकित रहकर रामचन्द्र जी ने कहा—"प्रिये! तुम नहीं समझ सकतीं कि जब मैं तुम्हें कठोर वचन कह रहा था, तब मेरे हृदय पर उन वचनों का कैसा आघात हो रहा था। जब लक्ष्मण ने

*मनसि वचसि काये, जागरे स्वप्नसंगे,
यदि मम पति भावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह ममाङ्गं पावनं पावकेदं,
सुकृत-दुरितभाजां, त्वं हि कर्मैकसाक्षी॥

तुम्हारे लिए चंदन की चिता प्रज्वलित की थी, तब मेरे हृदय में उससे भी अधिक दारुण ज्वाला जल रही थी। पर उसको दमन कर यह जानते हुए भी कि तुम शुद्ध पवित्र हो, तुम्हारे चिता प्रवेश में मैंने केवल इसलिए स्वीकृति दी थी कि तुम्हारी शुद्धता का प्रमाण सारे लोक को मिल जाय। मैं राजा हूँ, मेरा हृदय प्रजा-रंजन के लिए वाध्य है, मैं लोकमत की अवहेलना नहीं कर सकता था, अतः जनता को तुम्हारी शुद्धता का प्रमाण देना मेरे लिए आवश्यक था। अव तुम तपे हुए सुवर्ण की भाँति शुद्ध हो, मध्याह्न के प्रदीप्त दिनकर की भाँति पवित्र हो, अतः अव तुम्हें स्वीकृत कर मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। यह सुन कर सीता ने श्री रामचन्द्र जी की पदधूलि लेकर मस्तक पर लगाई और उनके कहे हुए समस्त कठोर वचनों को वह भूल गईं। सीता और रामचन्द्र के मधुर-मिलन पर सब उपस्थित लोग प्रसन्न हो जय-ध्वनि करने लगे।

इसके वाद शुभ मुहूर्त्त में विभीषण को लंका का राजतिलक दे, रामचन्द्र सदल बल अयोध्या की ओर चले।

६

प्रजारंजन ही रामचन्द्र के शासन का एक-मात्र मूल मंत्र था। प्रजा के कष्टों को, तथा राजा या राजकर्मचारियों के प्रति प्रजा के क्या विचार हैं यह जानने के लिए उन्होंने गुप्तचर नियत किये हुए थे। वे नहीं चाहते थे कि उनके किसी कार्य से जनता-जनार्दन असन्तुष्ट रहे। अतएव आज हज़ारों वर्षों के पश्चात् भी उनके राज्य को स्मरण किया जाता है, और जिस शासन में प्रजा पूर्णतया सन्तुष्ट हो उसे 'राम-राज्य' कहा जाता है।

इधर राज-महिषी सीता गर्भवती हुईं। माताओं की मनोकामना पूर्ण होने को आई। उनका आनन्द अवर्णनीय था। श्रीराम भी

सीता जी को सन्तुष्ट रखने के लिए बड़ा प्रयत्न करते थे। उनके गर्भ-दोहद को—उनकी इच्छाओं को—पूर्ण करने में बड़े सचेत रहते थे। एक दिन सीता जी ने रामचन्द्र जी से कहा—"आर्यपुत्र मेरी इच्छा है कि गंगा जी के तटपर मुनियों के आश्रमों में रहने वाली देवियों के दर्शन करूँ, और मुनि-कन्याओं को उत्तमोत्तम अलङ्कार और वस्त्र दे आऊँ।"

श्री रामचन्द्र जी ने कहा—"यह क्या कठिन है। मैं अभी इसका प्रबन्ध किए देता हूँ। कल ही तुम तमसा नदी के तट पर वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में जाकर तपोवन दर्शन कर आना। राजकार्य के आधिक्य के कारण कदाचित् मैं तुम्हारे साथ न जा सकूँ, परन्तु चिरंजीव लक्ष्मण तुम्हारे साथ जायँगे।

सीता जी यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई, वे ऋषि-पत्नियों और मुनि-कन्याओं के लिए अनेक प्रकार का सामान एकत्र करने लगीं। उन्होंने स्वप्न में भी न सोचा था कि उनका यह तपोवन-गमन पति-गृह से सदा के लिए गमन होगा।

श्रीरामचन्द्र जी अन्तःपुर से निकल नित्य नियमानुसार राज-सभा में जाकर बैठे। और नगर का समाचार लाने वाले गुप्तचरों से पूछताछ करने लगे। दुर्मुख ने बहुत डरते हुए और सङ्कोच करते हुए कहा—"महाराज, आपके विषय में जनता में कोई अपवाद नहीं है, परन्तु राजमहिषी इतने दिन तक एकाकिनी व्यभिचारी रावण के यहाँ बंदी रूप में रही हैं और उन्हें आपने पुनः अंगीकार कर लिया है, इस पर कुछ परनिंदकों का क्षोभ अवश्य है। उनका कथन है कि जब परगृहवासिनी पत्नी को महाराज ने स्वयं स्वीकार कर लिया है तो यदि ऐसी ही घटना हम में से किसी के यहाँ उपस्थित हो, तो अपराधिनी नारी को दण्ड देना कठिन होगा।"

दुर्मुख के मुँह से ये दुर्वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी का हृदय दुःखावेग से एकदम फट गया, तप्त अश्रुधारा से उनका वक्षस्थल भीग गया। उनके हृदय में भीषण अंतर्द्वन्द्व होने लगा। एक ओर प्रजा-रंजन का कठिन व्रत था और दूसरी ओर प्राणों से भी अधिक प्यारी, पुण्यमयी, गृह-लक्ष्मी, पतिव्रता, राजरानी सीता का परित्याग। एक ओर कठोर कर्तव्य की चट्टान थी दूसरी ओर प्रेम की अगाध नदी। रामचन्द्र किंकर्तव्यविमूढ़ थे। उन्होंने अपने भाइयों से परामर्श करना चाहा। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को बुलाया गया। गहन चिंता-सागर में अवगाहन करते हुए अधोवदन रामचन्द्र को देख तीनों भाई आश्चर्यचकित रह गये। बहुत देर तक उनको इसी प्रकार बैठा देख लक्ष्मण ने साहस करके पूछा—"प्रभो, किस गहन चिंता ने आपकी शान्ति का अपहरण कर लिया है।"

लक्ष्मण के वचन सुनकर रामचन्द्र वहाँ पर तीनों भाइयों को खड़ा देख सजग हो कर बोले—"भाइयो, गुप्तचरों द्वारा पता लगा है कि परगृह में रही हुई सीता को अपनाये जाने के कारण जनता असंतुष्ट है। वे राजा के इस कृत्य को घृणित समझते हैं। उनका कथन है कि मैंने रघुवंश की विमल कीर्त्ति को कलंकित कर दिया है। यद्यपि सीता कठोर अग्नि परीक्षा दे चुकी हैं, सब के सामने अपनी पवित्रता सिद्ध करने पर ही मैं उन्हें अपने घर लाया था, मैं जानता हूँ कि उस पवित्रता की मूर्ति को अपवित्रता स्पर्श भी नहीं कर सकती; तथापि जनता जिस राजा की अपकीर्ति करती है, उसका अवश्य अधःपात होता है। प्रजा को प्रसन्न रखना ही राजा का कर्तव्य है। अतएव मुझे प्राणों से भी अधिक प्रियतमा सीता का परित्याग करना पड़ रहा है। इसलिए लक्ष्मण, तुम कल प्रातः

काल ही सीता जी को रथ में बिठाकर गंगा जी के पार तमसानदी के तीर पर भगवान वाल्मीकि ऋषि के आश्रम के पास छोड़ आना।" लक्ष्मण यह सुन सिहर उठे। तब रामचन्द्र जी ने कहा – तुम नहीं समझ सकते लक्ष्मण, कि निरपराधिनी का परित्याग करते हुए मेरे हृदय में कैसा हाहाकार हो रहा है, परन्तु कठोर कर्तव्य मुझे इसके लिए वाधित कर रहा है। भाई, यदि तुम मुझ पर प्रेम करते हो तो तुम मुझे इस निश्चय से विचलित न करोगे। अभी कुछ देर पहले ही सीता जी ने गंगा तट के आश्रमों में रहने वाली ऋषि-पत्नियों को वस्त्र आभूषण प्रदान करने की अभिलाषा प्रकट की थी। मैंने उन्हें वहाँ पर तुम्हारे साथ भेजने का वचन भी दे दिया था, अतः वह आनन्द से तुम्हारे साथ जाने को उद्यत होंगी। यह कहते ही प्रलय के समान अन्तर्द्वन्द्व के दमन का प्रयास करते हुए बलात् अश्रु-सँवरण करते हुए रामचन्द्र जी ने नीचा मुख कर लिया।

तीनों भाई यह कठोर निश्चय सुन कर स्तब्ध रह गये। भरत और लक्ष्मण ने फिर भी प्रतिवाद किया। तब रामचन्द्र जी बोले—"भाई, तुम जो कहते हो मैं सब पर विचार कर चुका हूँ। परन्तु रघुवंश की विमल कीर्त्ति पर किसी प्रकार का लाञ्छन मैं सहन नहीं कर सकता। प्रजा की अप्रसन्नता में ही रघुवंश की अपकीर्त्ति है। अतः जनता-जनार्दन को प्रसन्न करने के लिए मैं ऐसा महान् त्याग करने लगा हूँ। स्वयं हमारे पूज्य पिता जी ने रघुवंश की कीर्त्ति के लिए अपने प्राण होम दिये थे। फिर उनका पुत्र हो मैं किस प्रकार अन्यथा कर सकता हूँ। तब निरुत्तर हो तीनों भाइयों को वहाँ से जाना पड़ा और रामचन्द्र वहीं बैठे अपने भाग्य को कोसने लगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुमंत्र श्री रामचन्द्रजी के शीघ्रगामी

रथ को तपोवन की ओर बढ़ाये लिए जा रहे थे। उसमें सीता जी तथा लक्ष्मण बैठे हुए थे। भोली-भाली सीता जी आनन्द में मग्न थीं, उनके पास अनेक सुन्दर वस्त्र और आभूषण थे। ऋषि-पत्नियों को अलंकार देने की सदिच्छा से उनके मुख मण्डल पर प्रसन्नता की छाया तथा उत्साह की अद्भुत छटा दिखाई देती थी। वे लक्ष्मण जी से अनेक प्रश्न कर रहीं थीं—"मुनि स्त्रियाँ इन वस्त्रों को पाकर प्रसन्न होंगी या नहीं, उन्होंने ऐसे सुन्दर वस्त्र पहले कभी देखे होंगे अथवा नहीं? ये प्रश्न सुन लक्ष्मण के हृदय में असह्य वेदना होती थी। वे सोचते थे कि देखो सिर पर मँडराती हुई भयंकर आपत्ति का इस सती-साध्वी को तनिक भी ज्ञान नहीं है। रह-रह कर उनकी आँखों से आँसू टपकना चाहते थे, उनका मुख भी श्री-हीन था।

यह देख सीता जी ने पूछा—'लक्ष्मण, आज तुम इतने उदास क्यों हो। तुम्हारी आँखें लाल क्यों हो रही हैं। मैं समझती हूँ कि तुम अपने बड़े भाई से एक दिन के लिए भी कभी पृथक् नहीं हुए, अतएव तुम्हें उनका वियोग कदाचित् असह्य प्रतीत होता हो, परन्तु हमें मुनियों के आश्रम में केवल एक ही रात रहना है। हमें उनसे कोई अधिक देर तो अलग रहना नहीं है।" सीता जी के ये शब्द लक्ष्मण के हृदय में शूल की तरह चुभने लगे और यह विचार कर कि मुझे ही कपट से इस निरपराधिनी, और मुझ पर पूर्ण विश्वास रखने वाली मातृ-सदृश देवी का घात करना होगा, वे अगाध दुःख-सागर में डूब गये। उनके मुँह से इसके उत्तर में एक शब्द भी न निकला। फिर भी सीता जी बारंबार लक्ष्मण जी से उनके दुःख का कारण पूछती रही।

सहसा सीता जी की दाहिनी आँख फड़कने लगीं, यह अपशकुन

देख वे घबड़ा गईं और बोलीं—"लक्ष्मण मेरे भी हृदय की आज विचित्र दशा हो रही है, समझ नहीं पड़ता मुझे ये अपशकुन क्यों हो रहे हैं, मैं तो एक धार्मिक कृत्य के लिये जा रही हूँ।"

इतने में रथ भागीरथी के तट पर जा पहुँचा। भागीरथी को देखते ही लक्ष्मण की आँखों से दूसरी भागीरथी के समान अश्रुधारा उमड़ उठी। यह देख सीता जी ने अत्यधिक चिंतित होकर फिर पूछा—"वत्स लक्ष्मण, आज तुम दिन भर से उदास हो, मेरे बार-बार पूछने पर भी कारण नहीं बताते, बताओ तो वत्स, तुम्हारे इस प्रकार क्षुब्ध होने का क्या कारण है।" लक्ष्मण ने अब भी अपना मौन भंग न किया, और अश्रुधारा को पोंछ कर वे नाव का प्रबन्ध करने चले गये। निषादराज गुह ने लक्ष्मण और सीता को देखकर शीघ्र ही नौका का प्रबन्ध करा दिया। सुमंत्र को रथ लेकर वहीं खड़ा रहने की आज्ञा देकर लक्ष्मण सीता-सहित नौका पर सवार हो गये।

मल्लाहों ने शीघ्र ही नौका को दूसरे किनारे पर लगा दिया। लक्ष्मण ने सीता जी को नौका से नीचे उतारा। सीता अभी कुछ पग आगे बढ़ी ही थीं, तब लक्ष्मण कम्पित-कंठ से कातर हो बोले—"देवी वैदेही" इसके बाद वे कुछ कह न सके, उनका कंठ भर आया। लक्ष्मण के इस कातर स्वर को सुनकर सीता जी एक-दम भीत एवं स्तंभित सी रह गईं। फिर आँचल से लक्ष्मण के आँसुओं को पोंछ कर बोलीं—"वत्स, तुमसे कितनी बार पूछा है, पर तुम अपनी कातरता का कारण ही नहीं कहते, कहो मुझे बड़ी चिंता हो रही है, कहो, कहो!"

लक्ष्मण ने बड़े साहस से कहा—"देवि, प्रजावत्सल राजा रामचन्द्र ने लोकापवाद के डर से आपको यहीं महर्षि वाल्मीकि

के आश्रम के निकट वन में छोड़ देने की मुझे कठोर आज्ञा दी है।" इतना कहते ही लक्ष्मण का गला रुँध गया।

वज्र के समान कठोर वचन सुनकर विच्छिन्न कदली वृक्ष की भाँति सीता जी सहसा मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। परन्तु शीघ्र ही पुण्य-तोया भागीरथी के शीतल कणयुक्त मंद-मंद समीर द्वारा संज्ञा-युक्त होकर वे विलाप करने लगीं—"दुर्दैव, क्या अब भी तू मेरा पीछा नहीं छोड़ता। लक्ष्मण, क्या विधाता ने मुझे आजीवन दुःख भोगने के लिए ही उत्पन्न किया था? मैंने पूर्व-जन्म में कौन-सा ऐसा पाप किया था। सचमुच ही मैंने किसी सुखी दंपति का विच्छेद करवाया होगा। लक्ष्मण, मैंने तुम्हारे सामने अग्निमें प्रवेश कर अपनी पवित्रताको सिद्ध कर दिया था, क्या फिर भी न्यायशील महाराज मेरा त्याग कर रहे हैं। मैं इन वन के दुःखों को बहुत भोग चुकी। पर आर्यपुत्र के संग रहने से वनवास मुझे किंचिन्मात्र भी कष्टकर नहीं प्रतीत हुआ था, और उनके आश्रय ही के कारण प्रत्येक आश्रम में मेरा आदर सत्कार होता था। पर अब इस दशा में मुझे कौन आश्रय देगा। यदि कोई पुण्यात्मा आश्रय दे भी देगा, तो मैं आर्यपुत्र के बिना कैसे दिन काट सकूँगी। अब मेरे दुःख को कौन सुनेगा। जब ऋषि-महात्मा पति द्वारा निर्वासन का कारण पूछेंगे तो क्या मैं किसी से यह कह सकूँगी कि आर्यपुत्र ने लोकापवाद से मुझे असती समझ मेरा परित्याग कर दिया है। बस, इस कलंकित जीवन से तो मृत्यु ही सौगुणा अच्छी। इच्छा होती है कि तुम्हारे सामने ही माता गंगा की गोद में आश्रय लूँ परन्तु हाय इस समय मेरे उदर में उस निष्ठुर की संतान—पवित्र रघुवंश की भावी सन्तान—है अतएव मैं आत्म-हत्या करने में भी असमर्थ हूँ।

"प्यारे लक्ष्मण, तुम क्यों रोते हो! दुःखिनी सीता के भाग्य में जो कुछ लिखा है, उसे भोगने दो। जाओ, तुम अपना कर्तव्य करो। सब सासुओं से हाथ जोड़कर प्रणाम कहना और उस धार्मिक राजा को मेरा संदेश सुना देना—'महाराज, सबके सामने अग्नि में प्रवेश कर मैं अपने को निर्दोष सिद्ध कर चुकी हूँ। आप भी भली-भाँति जानते हैं कि मेरी आप पर पूर्ण भक्ति है। यदि केवल प्रजा की परितुष्टि के लिए लोकापवाद के भय से मुझे निरपराधिनी समझते हुए भी आपने बाध्य होकर निर्वासन दण्ड दिया है तो राज्य से निर्वासित कर देने पर भी मुझे हृदय से निर्वासित न करें और यह तो मैं स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती कि आप अपने उदार हृदय में मुझे कभी भी असती समझते होंगे। राजा के नाते प्रजा की परितुष्टि आपका धर्म है। अतएव उस धर्म के पालन के लिए मुझे जो दण्ड मिला है, वह मुझे भी मान्य है, क्योंकि स्त्रियों के लिए तो पति ही मुख्य देवता है, पति ही उनका बन्धु और वही उनका गुरु है। इस समय मेरा भी यही कर्तव्य है कि मैं आपकी विमल कीर्त्ति को कलंकित न होने दूँ। अब मुझे इस शरीर की भी सर्वथा चिंता नहीं है। सन्तान की उत्पत्ति के अनन्तर मैं प्रत्येक जन्म में आपके सदृश पति पाने और इस जन्म के समान आपका वियोग न होने के लिए कठिन तपस्या करूँगी।'—"वत्स लक्ष्मण, यदि फिर मेरा नारी-जन्म हुआ तो तुम जैसा ही स्नेही देवर पाने की प्रार्थना करूँगी, जाओ लक्ष्मण, तुम जाओ, आर्यपुत्र अवश्य मेरे विरह में कातर हो रहे होंगे। मेरी बहन श्रुतकीर्त्ति, माँडवी और उर्मिला अवश्य ही चिंतित होंगी। तुमको मेरी शपथ, तुम कभी आर्यपुत्र का संग न छोड़ना। जब कभी वे मेरे लिए विलाप करके कर्तव्य

में शिथिलता दिखायें, तब तुम उन्हें ढाढस बँधाते रहना। जाओ भैया, अब जाओ, राजा की आज्ञा और कर्त्तव्य का पालन करो।"

अब लक्ष्मण तप्त अश्रुओं से उनके चरण-कमलों को प्रक्षालन कर तथा उनकी परिक्रमा करके विदा हो नौका में जा बैठे। थोड़ी ही देर में वे गंगा को पार करके दूसरे तट पर जा पहुँचे और फिर रथ में बैठकर उदास मन से अयोध्या की ओर चल दिये। रथ में बैठ लक्ष्मण देवी सीता की ओर एकटक देख रहे थे और सीता जी भी निरंतर निर्निमेष नयनों से तब तक उसी ओर ही देखती रहीं जब तक रथ उनकी दृष्टि-पथ को अतिक्रम नहीं कर गया।

जब रथ का दिखना बंद होगया, तब सीता जी को चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई दिया। अन्त में सहसा "महाराज, आपने मुझ निरपराधिनो को इस बीहड़ वन में क्यों छोड़ दिया" कह कर वे फूट फूटकर रोने लगीं। उनका वह करुण-क्रंदन उस निर्जन वन में गूँजने लगा। उस समय महर्षि वाल्मीकि के शिष्य उस निर्जन वन में समिधा एकत्र करने के लिए आये हुए थे। वे उस हृदय-वेधी करुण-रुदन को सुनकर द्रवित हो गये। उन्होंने जाकर गुरु को सूचना दी कि एक संभ्रान्त महिला एकाकिनी बैठी रुदन कर रही है। यह बात सुन महर्षि वाल्मीकि तुरंत गंगा तट पर पहुँचे और देवी सीता को संबोधन करके बोले—"वत्से, तुम विषाद मत करो। मैं जानता हूँ कि तुम्हारी जैसी प्रियतमा और पवित्रता की मूर्ति को रामचन्द्र ने केवल प्रजा के हित के लिए परित्याग किया है। देवि, रामचन्द्र भी तुमको परित्याग कर कभी सुखी न रहेंगे। चलो तुम मेरे आश्रम

में चलो, तुम्हारे चरण-रज से मेरा आश्रम भी पवित्र हो जावेगा। तपोवन-वासिनी ऋषि-पत्नियाँ अपनी कन्या की तरह तुम्हारा पालन करेंगी।"

वाल्मीकि ऋषि के ये साँत्वना भरे स्निग्ध वचन सुनकर सीता जी ने उठकर उन्हें प्रणाम किया। और ऋषि ने उन्हें आशीर्वाद दिया—"पुत्री, वीरप्रसविनी होओ, और पुनः अपने पति की कृपा-भाजन बनो।" फिर ऋषि की सहायता से उस ऊबड़-खाबड़ मार्ग को पार करती हुई सीता उनके आश्रम में पहुंची। वहाँ महर्षि ने आश्रम वासिनी ऋषि-पत्नियों से सीता का परिचय कराया और सीता से कहा—बेटी अब से—

सास आदि की सेवा का सुख वृद्धाओं में पाना।
होंगी सखियाँ और बहिन ये मुनि-कन्याएँ नाना।

७

महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ही देवी सीता के दो यमज पुत्र उत्पन्न हुए। महर्षि बाल्मीकि ने यथाविधि उनके जात-कर्मादि संस्कार कर बड़े का नाम कुश और छोटे का नाम लव रखा। वनवासिनी सीता जी इन दो शिशु-रत्नों को पाकर अपना सब दुख भूल गईं और बड़े यत्न से उनका लालन-पालन करने लगीं। तपोवन दोनों शिशुओं की तोतली बोली से गूँज उठा। ऋषिपत्नियाँ उनके बालचापल्य को देखकर पुनः मातृसुख अनुभव करने लगीं।

जब वे कुछ बड़े हुए तब उनकी शिक्षा का भार महर्षि वाल्मीकि पर ही पड़ा। महर्षि ने अन्य ऋषिकुमारों के समान उन्हें सब शास्त्रों की शिक्षा दी। फिर धनुःसंचालन, अश्वारोहण आदि क्षत्रियोचित शिक्षा भी वह स्वयं ही उन्हें देने लगे। धीरे-धीरे महर्षि ने उन्हें सब विद्याओं में प्रवीण कर दिया।

वाल्मीकि मुनि ने श्रीराम के उदारचरित्र का वर्णन करते हुए रामायण नामक एक महाकाव्य लिखा था। जो इस लोक में उस आदि-कवि का पहला लौकिक काव्य था। वह लय-संयुक्त था और वीणा पर गाने योग्य था। महर्षि वाल्मीकि इन दोनों शिष्यों को अब उस रामायण का गान करना सिखाने लगे। दोनों तापस वेश-धारी राजकुमार जब वीणा के सुर में सुर मिलाकर मधुर कंठ से रामचरित गान करते तो तपोवनवासी मुग्ध हो जाते, वन के पशु-पक्षी भी जड़वत् होकर उसे सुनने लगते। परन्तु राजकुमार इससे अनभिज्ञ थे कि वे अपने ही पूज्य, पर निष्ठुर पिता का उदार चरित्र गा रहे हैं। वे जानते थे कि सूर्यवंशी रामचन्द्र जैसा प्रतापशाली और प्रजावत्सल राजा त्रैलोक्य में नहीं है परन्तु वे उसी प्रताप-शाली राजा के पुत्र हैं यह उन्हें ज्ञात न था। दोनों पुत्रों के वीणा से भी अधिक मधुर स्वर में सीता जी जब अपने पितृकुल और पतिकुल की गौरवकीर्त्ति सुनतीं, अपने पति की वीरता के अद्भुत कृत्यों को और अपनी वनवास की करुण पर सुखदगाथा को श्रवण करतीं तो अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करतीं। उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आते और वे अपने को धन्य समझतीं।

दोनों कुमारों ने इसी प्रकार शिक्षा पाते हुए बालकपन से किशोरावस्था में पदार्पण किया। अब मुनि को केवल एक चिंता थी कि किस प्रकार सीता पुनः पति की कृपाभाजन बने, और किस प्रकार ये राजकुमार अपने पैतृक अधिकार को प्राप्त कर सकें।

महर्षि को वह सुयोग शीघ्र ही प्राप्त हो गया। कुलगुरु वसिष्ठ के आदेश से रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। उस यज्ञ के लिए उन्होंने चारों दिशाओं से बड़े-बड़े ऋषियों को निमंत्रित किया और देश देशान्तर के राजाओं को

बुलाया। किष्किंधा से सुग्रीव, सुदूर लंका से विभीषण आदि राजा अपने सामन्तों सहित आ उपस्थित हुए। एक दूत महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में भी पहुँचा। उसने शिष्यों सहित महर्षि वाल्मीकि को यज्ञ में पधारने के लिए निमंत्रण दिया। महर्षि ने मन में विचारा कि यह अच्छा अवसर है। मैं कुश और लव को शिष्य-रूप में साथ ले जाऊँगा। दोनों कुमार इधर-उधर परिभ्रमण कर सुमधुर स्वर से राम-कथा गायँगे। इस तरह से वे निश्चय ही रामचन्द्र के ध्यान को आकर्षित कर सकेंगे। परन्तु प्रश्न यह था कि क्या अभिमानिनी सीता अपने पुत्रों को उस निर्दय पति के यज्ञ में जाने देगी, जिसने निरपराधिनी गर्भवती को कपट-रूप से बीहड़ वन में छुड़वा दिया था। अतः महर्षि ने सीता की आज्ञा ले लेनी उचित समझी। जब महर्षि ने सीता जी को अश्वमेध यज्ञ का समाचार दिया और कुमारों को अपने साथ ले जाने को पूछा तो उन्होंने कहा—"कुमार आपके हैं, आप इन्हें जहाँ चाहें ले जा सकते हैं।"

इधर यह समाचार सुनकर कुश और लव उस रघुवंशी के दर्शन पाने के लिए उत्सुक थे जिनका यशोगान करते करते उनकी जिह्वा परिश्रान्त न होती थी। उधर सीता जी के मन में बड़ी चिंता उत्पन्न हुई। वसंत का सुरभित मलय पवन, ग्रीष्म के लंबे दिन, पावस का घनघोर गर्जन और शरद् की सुखद चाँदनी तथा शिशिर-हेमन्त की लंबी लंबी रातें, क्रम से आतीं और चली जातीं, परन्तु इतने वर्ष तक अयोध्या से उन्हें कभी आमंत्रण न आया था। इतने वर्ष के अनन्तर रामचन्द्र जी की ओर से वे निराश हो गई थीं। संतान के लालन-पालन में लगे रहने के कारण उन्हें और किसी विचार का अवकाश भी न मिलता था। निराशा ने

उनका हृदय पक्का कर दिया था। परन्तु आज अश्वमेध यज्ञ का नाम सुनते ही उनके हृदय में बड़ी ठेस लगी। आज उनका स्त्रीत्व पुनः जागरित हो उठा। वे जानती थीं कि वैदिक नियमानुसार यज्ञ आदि शुभ कार्य पत्नी के अभाव में नहीं हो सकते। तो क्या रामचन्द्र जी ने उनके अभाव में यज्ञ करने के लिए पुनर्विवाह कर लिया है। क्या राज्य से निर्वासित करने के साथ उन्हें हृदय से भी निर्वासित कर दिया है। क्या प्रजा-रंजन केवल व्याज-मात्र था। फिर कौन ऐसी सौभाग्यवती स्त्री है जो यज्ञ के समय अयोध्या-नरेश से अर्द्धासन पायगी। यह चिंता और ये विचार सीता के अन्तस्तल को मथन करने लगे। आज फिर कई वर्ष पूर्व की घटनाएँ उनके दृष्टि-पथ में नृत्य करने लगीं।

इतने ही में ऋषि-पत्नियों ने अयोध्या से आये हुए दूत से पूछा, कि यज्ञानुष्ठान में बिना पत्नी के साथ रहे तो सिद्धि प्राप्त नहीं होती, तो क्या तुम्हारे महाराज ने इस कार्य के लिए दूसरा विवाह किया है?

राजदूत ने कहा—"नहीं नहीं, ऐसा तो हमारे महाराज अगले जन्म में भी नहीं कर सकते। कुलगुरु वसिष्ठ ने वहुत कहा, परन्तु इस वात में उन्होंने कुलगुरु की आज्ञा की भी अवहेलना कर दी और स्पष्ट कह दिया कि केवल प्रजारंजन के लिए मैंने निरपराधिनी राजरानी को अपने राज्य से निर्वासित किया था। परन्तु इतने वर्षों के अनन्तर भी हृदय से उनकी स्मृति एक क्षण के लिये भी नहीं भुला सका हूँ, यदि यज्ञ करना आवश्यक है तो उनकी स्वर्ण-मूर्त्ति ही यज्ञ में अर्द्धासन पर बैठेगी, अन्य कोई स्त्री इस स्थान को नहीं पा सकती।"

यह सुनकर वनवासिनी सीता के हृदय में भी सौभाग्य का अपूर्व गर्व जागरित हो उठा। वह दुखी और निर्वासित होते हुए

भी अपने नारी-जन्म को धन्य समझने लगीं। और उन्होंने निश्चय किया कि अपनी आयु का अवशिष्ट काल इस शुभ-संवाद की स्मृति को हृदय में रखकर ही आनन्द से व्यतीत कर दूँगी।

कुश और लव सहित वाल्मीकि ऋषि यज्ञ-भूमि में उपस्थित हुए। भरत जी ने अत्यन्त प्रेम और नम्रता से उनका स्वागत किया और उनको रम्य पर्णकुटी में ठहराया। ऋषि ने कुश और लव को स्थान स्थान पर—राज प्रासादों में, ऋषियों के आश्रमों में में, हाट में, राजमार्ग में—वीणा-मृदंग सहित रामायण-गान करने की आज्ञा दी। पर साथ ही यह आदेश दिया कि यदि कोई तुम्हें पुरस्कार दे तो स्वीकृत न करना। परिचय पूछे तो केवल यही कहना कि हम लोग वाल्मीकि के शिष्य हैं।

जब वे सुन्दर राजपुत्र अपने मधुर कंठ से उस अद्भुत काव्य को गाने लगते तो सहस्रों पुरुषों की भीड़ एकत्र हो जाती और सब मोहित हो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते। धीरे-धीरे उनकी कीर्त्ति राज-प्रासाद तक पहुँची। श्री रामचन्द्र जी ने उन बालकों को बुलाकर यज्ञ-मंडप में ऋषियों के सामने उस काव्य को गाने के लिए आदेश दिया। उस दिन उन बालकों ने आदिकाण्ड के २० सर्ग सुनाये। उन्हें सुनकर श्री रामचन्द्र इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उन बालकों को अठारह सहस्र मुहरें देने के लिए भरत जी को आज्ञा दी। जब भरत वह पुरस्कार उन्हें देने लगे तो ऋषि-कुमारों ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज हम तो आश्रमवासी कन्दमूल-फल खाकर रहने वाले तपस्वी बालक हैं। इस सुवर्ण को लेकर हम क्या करेंगे। महाराज का गुण-कीर्तन महाराज के सामने ही करने का सौभाग्य पाकर हम कृत-कृत्य हो गये हैं यही हमारा यथेष्ट पुरस्कार है।" यह उत्तर सुन सारी सभा विस्मित हो

गई। उन बालकों का स्वरूप देखकर तो और भी अधिक आश्चर्य चकित हो रहे थे। वे तो सर्वथा रामचन्द्र जी के प्रतिबिम्ब थे। भेद केवल इतना था कि उनके सिर पर जटाएँ थीं तथा शरीर पर वल्कल थे, पर श्री रामचन्द्र जी के देह में राजसी वस्त्र थे। राजमाताएँ तो उन कोमल कुमारों को देखकर मोहित हो रही थीं पर जब कोई उनसे कौतूहल वश परिचय पूँछता तो वे यही कह देते कि हम महर्षि वाल्मीकि के शिष्य हैं।

जब कई दिनों तक उन कुमारों के गायन होते रहे तब एक दिन महाराज रामचन्द्र ने महर्षि वाल्मीकि को बुलाकर उन बालकों का परिचय पूछा। महर्षि ने सीता के परित्याग से लेकर अब तक की सारी घटनाओं का उल्लेख कर कहा—"महाराज, ये दोनों कुमार आपके ही हैं। यथाशक्ति मैं अब तक इन्हें शिक्षा देता रहा हूँ, पर अब आप इनको ग्रहण करें। साथ ही उस वनवासिनी धर्मशीला पत्नी को भी पुनः अपनाएँ।"

महर्षि वाल्मीकि के वचन सुनकर रामचन्द्र बोले—"मैं सीता को सर्वथा पाप-रहित और पवित्र समझता हूँ। परन्तु फिर भी जनता की परितुष्टि के लिए मैंने उसे अग्निपरीक्षा देने को कहा था। और उसके अनंतर ही मैं उसे स्वीकार कर यहाँ लाया था। पर जब अयोध्या में फिर भी उसके विषय में लोकापवाद सुना, तब मुझे बाध्य होकर उस निरपराधिनी का परित्याग करना पड़ा। मुझे भली-भाँति ज्ञात है कि ये दोनों भी मेरे हैं परन्तु अब भी प्रजा को विश्वास दिलाने के लिए सीता को फिर अपनी शुद्धता सिद्ध करनी होगी। यदि प्रजा के प्रतिनिधि उसकी शुद्धता को स्वीकृत कर लेंगे, तो मेरे हर्ष की सीमा न रहेगी। उस पर मेरा विश्वास तथा प्रेम और भी बढ़ जायगा।

यह सुनकर महर्षि वाल्मीकि बोले—"अच्छा है, सीता जी आपकी आज्ञानुसार आकर सभा में अपनी शुद्धता सिद्ध करेंगी। स्त्रियों के लिए तो पति ही मुख्य देवता है अतः वे आपकी अवहेलना नहीं कर सकतीं।

तदनुसार सीता जी को वाल्मीकि-आश्रम से लाने के लिए विश्वस्त दूत भेजे गये। उनके आने पर यज्ञमण्डप में सभा सजायी गई। श्रीरामचन्द्र जी ने यज्ञ के प्रीत्यर्थ वहाँ पर उपस्थित सभी ऋषियों को इस अवसर पर विशेष तौर से बुलाया। कुलगुरु वसिष्ठ, विश्वामित्र, जावाली, कश्यप, अगस्त्य, दुर्वासा, भृगु, मार्कण्डेय, पुलस्त्य, मुद्गल, गार्ग्य, च्यवन, शतानन्द, नारद आदि महर्षि सभा में उपस्थित थे। प्रजा के प्रतिनिधि भी निमन्त्रित किये गये थे। सब आकर यथास्थान बैठ गये। सबके हृदय में यह जानने का उत्सुकता और उत्कंठा थी—'अब क्या होगा।' पाषाण के समान सभा अविचल थी। उस समय महर्षि वाल्मीकि के पीछे-पीछे पग रखती हुई, हाथ जोड़े हुए आँखों से अविरल अश्रुधारा बहाती हुई, कृशवदना, काषाय-वसना सीता जी सभा के मध्य में आई। उन्हें देखकर सभा-जनों के मुख से 'धन्य धन्य' की शान्त ध्वनि निकल पड़ी। श्रीरामचन्द्र और सीता जी का अपूर्व प्रेम और उनके तत्कालीन विचित्र दुःख का प्रतिबिम्ब, उन दोनों की ओर देखने वालों के अन्तःकरणों पर भी पड़ा। तब महर्षि वाल्मीकि सभा के मध्य में खड़े होकर धीर गंभीर गिरा में बोले—"दाशरथे रामचन्द्र! तुमने जब से इन पतिव्रता और धर्मशीला पत्नी सीता का लोकापवाद के कारण परित्याग किया है, तभी से ये मेरे आश्रम में रहती हैं। तुम जानते हो, मैं प्रचेतस का आठवाँ पुत्र हूँ। मैंने आजतक कभी

असत्य संभाषण नहीं किया है। मेरा विश्वास है विदेह-राज की कन्या सर्वथा पाप-रहित और शुद्ध है। मेरा यह कथन सर्वथा सत्य है, यदि यह असत्य हो तो मेरी अनेक वर्षों की तपस्या फल-रहित हो जावेगी। अब वे तुम्हारे समाधान के लिए अपनी शुद्धता स्वयं सिद्ध करेंगी।"

तदनन्तर रामचन्द्र जी बोले—"महर्षे, मैं जानता हूँ कि सीता सर्वथा पाप-रहित है, फिर आपके वचन पर संदेह भी नहीं किया जा सकता। परन्तु राजा प्रजा के अधीन है। यदि प्रजा सीता की शुद्धता को स्वीकृत कर लेती है तो मैं अपने को धन्य समझूँगा।"

पति के मुख से यह वचन सुन तपस्वी-जनोचित काषाय वस्त्र-धारिणी सीता आगे बढ़ीं, उस समय उनकी दृष्टि निरंतर पृथ्वी की ओर लगी हुई थी। तब उन्होंने हाथ जोड़ कर स्थिर होकर कहा—"यदि मैंने आज दिन तक आर्यपुत्र राघव के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के विषय में मन में विचार तक न किया हो, तो हे माँ वसुंधरे! तुम मुझे अपनी शान्तिमयी गोद में शीघ्र ही स्थान दो। यदि मन, वचन, और कर्म से मैंने पति-देवता से ही प्रेम किया हो और यदि मेरा कथन सत्य हो तो हे पृथिवी माता! तुम मुझे अवश्य अपने में स्थान दोगी। इस प्रकार सीता जी के शपथ लेते ही पृथ्वी विदीर्ण हो गई और वह सती सदा के लिए उसमें अदृश्य हो गई। उस आश्चर्य को देख सब विस्मित रह गये, और क्षण भर के अनंतर सबके मुँह से यही निकला—'धन्य आदर्श सती'

गान्धारी

१

पञ्जाब के पश्चिम में सिन्धु नदी से पार गान्धार नाम का एक विस्तीर्ण प्रान्त था। विक्रम संवत् से कोई ३१५० वर्ष पहले वहाँ अनेक प्रसिद्ध क्षत्रिय-कुल निवास करते थे। उनमें से एक कुल महाराज नग्नजित् का था। देवकी-पुत्र भगवान् कृष्ण ने इसी नग्नजित् के पुत्रों को जीत कर वन्दीगृह में पड़े अनेक राजाओं को मुक्त किया था। इसी नग्नजित् की कन्या नाग्नजिती अथवा सुकेशी को भूतपावन गोविन्द ने वरा था। फिर एक स्वयंवर में उपस्थित वृष्णी-वीर श्री वासुदेव ने यहीं पर काश्मीर के राजा दामोदर का वध किया था। उन दिनों इसी गान्धार देश के एक भाग का राजा सुबल था। सुबल की कई कन्याएँ थीं और गान्धारी उन सब में बड़ी थी।

२

इन दिनों कुरु-जांगल राज्य की राजधानी हस्तिनापुर थी। कुरु-कुल में उत्पन्न होने से इस राज्य के राजा कौरव कहाते थे। महाराज शन्तनु का देहान्त हो चुका था। शन्तनु के ज्येष्ठ-पुत्र देवव्रत अथवा भीष्म ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की घोर प्रतिज्ञा कर ली थी। भीष्म का यह व्रत अटूट था, अभेद्य था। भीष्म के छोटे भाई चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य इह-लोक से गमन कर चुके थे। उनके तीन पुत्र थे—धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर। धृतराष्ट्र उन सब में से ज्येष्ठ तथा बलवान परन्तु चक्षुहीन था। इन बालकों की कुमारावस्था में राज्य का सारा प्रबन्ध अर्थशास्त्र-निष्णात शान्तनव भीष्म जी माता सत्यवती की अनुमति से करते थे। भीष्म के राज्य-शासन में धर्मचक्र प्रवृत्त था। वे तीनों कुमार भीष्म से पुत्रवत्-पालित हो यौवन को प्राप्त हुए।

३

गाङ्गेय भीष्म धर्मनिष्ठ विदुर से बोले—"हमारा कुल श्रेष्ठ गुणों के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है, इन्हीं कारणों से यह समुद्र के समान बढ़ रहा है। इसकी वृद्धि का अब पुनः समय आ गया है। सुनते हैं सुबल की कन्या कुलीना, रूपवती और बन्धु-बान्धव-युक्ता है। सुबल भी क्षत्रियों में श्रेष्ठ है, अतः धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी का सम्बन्ध योग्य है।" भीष्म जी के वचन सुनकर विदुर ने कहा—"महाराज! आप हमारे पिता, आप ही माता और आप परम गुरु हैं, अतएव जो हमारा हितकार्य है, उसका सम्पादन आप स्वयं करें।" उपर्युक्त वार्तालाप के अनन्तर कुरु-वृद्ध भीष्म ने अपने दूत गान्धार को भेजे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भीष्म का अभिप्राय सुबल से कहा।

सारा सन्देशा सुन कर सुबल के हृदय में पहले यह विचार उत्पन्न हुआ कि धृतराष्ट्र अचक्षु है, पर फिर कुरुओं की कुलख्याति और पूर्व इतिवृत्त के कारण उसने धर्म-चारिणी गान्धारी को धृतराष्ट्र के लिए दे दिया।

जब गान्धारी के माता-पिता ने यह निश्चय कर लिया तो उन्होंने अपनी कन्या को अपार लक्ष्मी से युक्त किया, और उसे सब प्रकार से अलंकृत करके उसके भाई शकुनि के साथ हस्तिनापुर की ओर रवाना किया।

४

गान्धारी को पता लगा कि उसके माता-पिता ने उसे चक्षुहीन धृतराष्ट्र को दे दिया है। वह समय था जब कई पिता कन्याओं को अपनी अनुमति से व्याह देते थे। महाभारत में एक सुकन्या का आख्यान मिलता है। उसी आख्यान का अंश शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है। सुकन्या कहती है कि मेरे पिता ने जिसके साथ मेरा विवाह कर दिया, मैं उसे कदापि त्याग नहीं सकती। इससे प्रतीत होता है कि विवाह-सम्बन्धी प्राचीन वैदिक-प्रथा का उन दिनों प्रायः लोप आरम्भ हो गया था, अस्तु। भावी पति के नेत्रहीन होने का ज्ञान होते ही देवी गान्धारी ने एक वस्त्र उठाया और उसे तह करके अपने दोनों नेत्रों पर बाँध लिया।

गान्धारी के चित्त में इस भावना ने प्रबल रूप धारण कर लिया कि जब उसका पति दृष्टि-हीन है, तब वह कैसे दृष्टि को काम में ला सकती है, जब उसका स्वामी संसार के चित्रविचित्र पदार्थों को देखने में अशक्त है, तब वह उन्हें देखकर क्या करेगी। सुतरां, आँखों पर पट्टी बाँध कर उस आर्य देवी ने एक ऐसा गम्भीर व्रत धारण किया जिसका दृष्टान्त अन्यत्र मिलना कठिन है।

५

भाई शकुनि अपनी बहन गान्धारी के साथ कौरव राजधानी नागपुर में प्रविष्ट हुआ। उसके स्वागत के लिए नगर में एक अलौकिक समारोह था। भीष्म जी के प्रबन्ध के अनुसार अनेक मङ्गलाचरणों और यज्ञों के पश्चात् धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारी से हो गया। शकुनि ने बहुत रत्न, वस्त्रादि कौरव-कुल की भेंट किए। गान्धार की बनी हुई सर्व-श्रेष्ठ ऊन की पोशाकें भी उस भेंट का भाग थीं। इस प्रकार अनेक दिनों तक यह उत्सव होता रहा। तत्पश्चात् भीष्म से अनेक प्रकार प्रतिपूजित राजकुमार शकुनि अपने नगर को लौट गया।

स्त्रियों में श्रेष्ठा गान्धारी ने अपने शील और आचार के प्रभाव से कुरुओं को बहुत प्रसन्न किया। वह पतिव्रत-परायणा नारी वाणी से भी कोई ऐसा कर्म न करती थी कि जिस से कुरु-कुल के लोगों को असन्तोष हो।

६

महाराज धृतराष्ट्र का छोटा भाई पाण्डु अत्यन्त पराक्रमी और युद्ध-विद्या-विशारद था। उस ने भारत के अनेकों राजाओं को अपने बाहुबल से परास्त किया और मणि, मुक्ता, सुवर्ण, चाँदी, गौ, रत्न अश्व, रथ और हाथियों की एक अथाह राशि जीती। इन्द्र के समान रण-शूर पाण्डु ने शन्तनु और भरत की नष्ट हुई शुभ्र कीर्ति को शुक्ल-पक्ष की चन्द्रिका के समान पुनः प्रसारित कर दिया, और कौरवों से छीने हुए स्थानों को फिर से अपने राज्य में मिला लिया। पाण्डु द्वारा लाए गए धन से धृतराष्ट्र ने बहुत यज्ञ किए। यज्ञ और प्रजा-पालन में तत्पर कौरवों के दिन बहु-विधि मोद-प्रमोदों में अतिवाहित होते थे। इसी प्रकार कुछ वर्षों

के व्यतीत होने पर पाण्डु-पत्नी कुन्ती ने युधिष्ठिर को जन्म दिया और धृतराष्ट्र-पत्नी धर्मचारिणी गान्धारी का दुर्योधन नामक पुत्र हुआ। कालान्तर में गान्धारी के और भी पुत्र हुए। धृतराष्ट्र के सब पुत्रों में दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन ये चार प्रधान थे। पांडु के भी कुंती से भीम और अर्जुन दो अन्य, तथा दूसरी रानी माद्री से नकुल और सहदेव दो पुत्र हुए। इस प्रकार पांडु के कुल पाँच पुत्र थे। आयु की दृष्टि से युधिष्ठिर सब भाइयों से बड़ा था।

कुछ ही दिनों में पांडु की मृत्यु हो गई। उसकी छोटी रानी माद्री उसके साथ ही सती हो गई। पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण की कृपा से पाण्डु और धृतराष्ट्र के सब कुमार अस्त्र-विद्या में निपुण हो गए। भीष्म आदि की इच्छा युधिष्ठिर को राजसिंहासन देने की थी। दुर्योधन को यह रुचिकर न था। पुत्र-स्नेहाभिभूत धृतराष्ट्र धर्मपथ को जानता हुआ भी दुर्योधन की पापमयी वृत्ति के सामने कुछ बोल नहीं सकता था। दुर्योधन के अत्याचार एक-एक कर के बढ़ते गए। उसने माता कुन्ती को पुत्रों सहित लाक्षागृह में दग्ध करने का षड्यन्त्र रचा। वह षड्यन्त्र निष्फल हुआ। तब उसने द्यूत-कर्म का आश्रय लिया। गान्धार-यशो-हर शकुनि ने युधिष्ठिर को द्यूत में जीत लिया। उसी द्यूत-सभा में अनार्य-कर्म प्रवृत्त बन्धु-द्रोही दुःशासन ने साध्वी द्रौपदी को अपमानित किया। अपनी इस घोर आपत्ति में वह याज्ञसेनी सर्वदर्शिनी गान्धारी का भी आह्वान कर रही थी। इन सब बातों को देखकर भी दुरात्मा दुर्योधन की लोभ-वृत्ति प्रशान्त नहीं हुई। उसने पाण्डवों के लिए दीर्घकाल का वनवास निश्चित कर ही दिया।

८

बारह वर्ष के वनवास के पश्चात् एक वर्ष का अज्ञात-वास समाप्त हो चुका था। पाञ्चाल-देशाधिपति वृद्ध राजा द्रुपद ने सन्धि के निमित्त जो दूत नागपुर भेजे थे, वे असफल हो कर लौट आए थे। भारत के क्षात्र-समुदाय में एक क्षोभ उत्पन्न हो रहा था। कोई राजा पाण्डवों का पक्ष लेने के लिए समुद्यत था, तो कोई दुर्योधन की ओर से संग्राम-क्षेत्र में उतरने के लिए अग्रसर था। इन तैयारियों के मध्य में अर्जुन के प्यारे सखा वृष्णीवीर दाशार्ह कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि एक बार उन्हें भी हस्तिनापुर में हो आना चाहिए। संसार ऐसा न कहे कि कृष्ण के होते हुए भी भारत में क्षत्रिय-कुलान्तकारी युद्ध हो गया। युधिष्ठिर ने इस विषय में अनुमति दे दी।

यदु-प्रवीर अपने बन्धु सात्यकि और चुनी हुई सेना के साथ दूत बन कर हस्तिनापुर को चल पड़े। वे धृतराष्ट्र की राजसभा में खड़े थे। उनकी वाग्मिता को सुनने के लिए अनेक ऋषिगण भी अपने पार्वत्य आश्रमों से उतर कर उस पार्थिव-समिति में उपस्थित हुए थे। दुःशासन ने जब देखा कि राजा धृतराष्ट्र, भीष्म द्रोण और कृप आदि सब विचारवान् महानुभाव श्रीकृष्ण की यथार्थ वक्तृता के सामने झुके जा रहे हैं, तो उसने दुर्योधन से कहा, कि ये वृद्ध हमें और तुम्हें पाण्डवों को सौंप देंगे। भाई के यह वचन सुन कर मानावेश से आविष्ट मूर्ख दुर्योधन शिष्टता और मर्यादा का परित्याग करके उस सभा से प्रस्थान कर गया।

ऐसी परिस्थिति में पुष्कर-लोचन दाशार्ह धृतराष्ट्र से बोले—"राजन्! अपने कुल का अन्त न करो और ऐसे दुष्टात्मा पुत्र को त्याग दो, इसी में तुम्हारा कल्याण है।"

९

देवकी-नन्दन श्रीकृष्ण का वचन सुनकर धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा—"हे सर्व-धर्म के जानने वाले विदुर, जाओ और दीर्घ-दर्शिनी गान्धारी को सभा में ले आओ। उस के साथ दुर्मति दुर्योधन को समझाने का मैं फिर से प्रयत्न करूँगा, यदि उस दुरात्मा को समझाने में वह भी विफल-मनोरथ हुई, तो हम कृष्ण के वचनों को मान लेंगे। सम्भव है वह देवी लोभ-परिवेष्टित पुत्र को समझा सके, और दुर्योधन द्वारा उत्पन्न की गई यह घोर विपत्ति हमारे सिर से टल जाए।"

राजा की आज्ञा पाकर विदुर देवी गान्धारी को सभा में ले आए। उस देवी ने सभा में आकर जो वचन कहे हैं, आर्येतिहास में वे चिरस्मरणीय रहेंगे। सहस्रों वर्षों के बीत जाने पर भी उन शब्दों से उतना ही तेज, विचार और निर्भीकता झलकती है, जितनी कि उस अलौकिक दिन दिखाई दी थी, जिस दिन वे शब्द उस सभा में पहली बार सुने गये थे। कितनी देवियाँ इस संसार में हो चुकी हैं, जिन्होंने सहस्रों वीरों के सामने अपने पति की भूल का गान्धारी जैसा उज्ज्वल चित्र खींचा हो! यह बात और भी ओजस्विनी हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि ये वचन उसी वीरा नारी ने कहे हैं कि जो असाधारण पतिपरायणा थी। कविशिरोमणि सर्ववेदवित् कृष्णद्वैपायन की अनुपम रचना में जिस प्रकार वे शब्द लिखे गए हैं, आगे हम उन्हीं का भाषा-रूपान्तर देते हैं।

१०

गांधारी के सभा-स्थान पर बैठ जाने के अनन्तर धृतराष्ट्र ने कहा—"गान्धारि! यह तेरा पुत्र दुरात्मा और आज्ञा का अति-

क्रमण करने वाला है। ऐश्वर्य के लोभ से न केवल ऐश्वर्य को ही प्रत्युत जीवन को भी खो बैठेगा। अशिष्टों के समान मर्यादा रहित होकर और मित्रों के वचनों का उल्लंघन कर के वह मूढ़ सभा में से चला गया है।"

भर्ता के वचन सुन अपने कुल का महान् कल्याण चाहती हुई वह यशस्विनी राजपुत्री बोली—"राज्य के लोभी, दीन पुत्र को शीघ्र यहाँ बुलाओ। वह धर्म और अर्थ का लोप करने वाला अशिष्ट राज्य को कैसे प्राप्त कर सकता था, परन्तु सर्वथा नम्रता-रहित होने पर भी उसने राज्य को पाया। ऐ धृतराष्ट्र! पुत्र स्नेही तुम ही सबसे अधिक निन्दनीय हो, जो उसकी पापमयी वृत्ति को जानते हुए भी उसी की बुद्धि के पीछे चलते हो। वह काम और क्रोध के वश में होकर लोभ में स्थिर है। आज तुम उसे बलपूर्वक भी अपने वश में नहीं ला सकते। उस मूढ़, लोभी दुरात्मा पुत्र को राज्य देने का फल भोगते हो। राजन्! अपने ही बान्धवों में भेद को देख कर कैसे उपेक्षा कर रहे हो। अपने जनों से जुदा हो जाने पर शत्रु तुम्हारा धन और देश छीन लेंगे। अपने जनों में आई हुई जो आपदाएँ साम और दान से दूर हो सकती हैं, उनके लिए दंड का प्रयोग करना अच्छा नहीं है।"

जब महारानी इतना कह चुकीं, तब धृतराष्ट्र की आज्ञा और पति-परायणा गान्धारी के वचनों के अनुकूल विदुर जी ने अमर्षण दुर्योधन को सभा में पुनः लाने का प्रयत्न किया। माता के वचनों को सुनने का आकांक्षी वह सभा में आया पर क्रोध से उसके नेत्र लाल हो रहे थे, और वह पन्नग के समान श्वास ले रहा था। उस समय उसे निन्दित वचन कहते हुए कुल-कल्याण के लिए गान्धारी बोली—

ऐ पुत्र दुर्योधन ! मेरे वचनों को सुनो और समझो, जो तुम्हारे हित के लिए हैं और जिनका परिणाम सुख-दायक होगा। भीष्म ने, द्रोण ने, कृप ने, विदुर ने और तेरे पिता ने जो कुछ तुझे कहा है, उन आत्मीय जनों के वचनों के अनुकूल आचरण करो। सन्धि कर लोगे तो पितामह भीष्म महाराज धृतराष्ट्र, मैं और आचार्य द्रोण आदि सब ही परम सन्तुष्ट होंगे। हे वीर, राज्य को कोई अपनी इच्छा-मात्र से प्राप्त नहीं कर सकता, और न उसकी रक्षा कर सकता है, अथवा भोग सकता है। विजितात्मा और मेधावी पुरुष ही राज्य-पालन कर सकता है। अजितेन्द्रिय जन कभी राज्य को देर तक अपने नीचे नहीं रख सकता। प्रभुता करना टेढ़ी खीर है जो दुरात्मा सहज ही में राज्य पा जाते हैं, वे उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते। काम-क्रोध पुरुष को अर्थ से परे कर देते हैं, इन दोनों शत्रुओं को जीत कर राजा पृथ्वी को जीत लेता है। आत्मा को न जीत कर जो मन्त्रियों को जीतने की इच्छा करता है, अथवा शत्रुओं पर विजय पाना चाहता है, वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है। काम-क्रोध रूपी मगरमच्छ सूक्ष्म छिद्रों के समान जब शरीर में रहते हैं, तब ज्ञान का नाश कर देते हैं। जो बुद्धिमान राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह और दर्प को अच्छी तरह जीत लेता है, वही पृथ्वी के शासन करने में समर्थ होता है। जो राजा धर्म और अर्थ प्राप्त करने की इच्छा रखता हो और शत्रुओं को हराना चाहता हो उसे सब इन्द्रियों के दमन में समर्थ होना चाहिये। जो पुरुष काम और क्रोध के वशीभूत होकर आत्मीय स्वजनों और अन्य लोगों से कपट का व्यवहार करता है, उसे कभी सहायक नहीं मिलते।

यदि तुम शूर, शत्रु-निवर्हण, बुद्धिमान् पाण्डवों के साथ मिल कर पृथ्वी को भोगोगे, तो सुखी रहोगे। शान्तनव भीष्म और महा-

रथी द्रोण ने तुम्हें कहा है कि कृष्ण और अर्जुन अजेय हैं, यह सत्य है। इस महाबाहु कृष्ण की मति लो, प्रसन्न हुआ हुआ यह केशव हमारे और पाण्डवों के सुख का उपाय करेगा। जो नर विद्वान्, प्राज्ञ इष्ट-मित्रों की आज्ञा में नहीं चलता, वह शत्रुओं को प्रसन्न करने वाला होता है। वत्स! युद्ध में न कल्याण है और न धर्म तथा अर्थ। युद्ध में सदा विजय भी नहीं मिलती, अतः युद्ध का ध्यान मत करो।

हे शत्रुदमन, भीष्म और तुम्हारे पिता ने इसी भेदभाव के डर से पांडवों को न्याय से प्राप्य हिस्सा उन्हें दे दिया था। तुम जो इस समय शूर पांडवों के वल से शत्रु से हीन पृथिवी का निष्कंटक राज्य कर रहे हो, सो उसी का फल है। इस लिए यदि तुम मंत्रियों और भाइयों के साथ सुख से राज्य-सुख भोगना चाहते हो तो पांडवों को आधा राज्य दे दो। आधा राज्य पांडवों का न्याय से प्राप्य अंश है। और तुम्हारे लिए आधा राज्य पर्याप्त है। उससे तुम सानन्द भाई, मन्त्री और भृत्यादि के साथ अपनी जीविका चला सकते हो। इस प्रकार हितैषियों का कहना मानने से संसार में तुम्हारा यश विस्तृत होगा। पाण्डवों के साथ तुम्हें विग्रह महान् सुख से गिरा देगा। तेरह वर्ष पाण्डवों को कष्ट देकर तुमने उनका बड़ा अपकार किया है। उस अपकार के कारण पांडवों के हृदय में जो प्रतिहिंसा की आग धधक रही है, उसे अब शान्त करो। यही बुद्धिमत्ता है। पार्थ अपना भाग चाहते हैं, तेरा भाग नहीं माँगते।

दृढ़-क्रोधी सूतपुत्र और तेरा भाई दुःशासन, तेरी इच्छाएँ पूर्ण नहीं कर सकेंगे। भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, भीमसेन, धनञ्जय और धृष्टद्युम्न आदि वीर महारथी जब क्रुद्ध होकर परस्पर युद्ध करेंगे, तब घोर लोकक्षय होगा। हे तात! क्रोधवश होकर कुरु-वंश का

ऐसा व्यर्थ नाश मत करो, यह सारी पृथ्वी तुम्हारे कारण से नाश को प्राप्त न होवे। अरे मूढ़! यह जो तू समझे बैठा है कि भीष्म, द्रोण और कृप आदि अपने पूरे बल से तुम्हारे पक्ष में लड़ेंगे, यह बात अब सत्य नहीं है। वे जानते हैं कि तुम्हारा और पांडवों का राज्य में सम-भाग है, उनकी प्रीति दोनों में है, परन्तु वे धर्म को अधिक मानते हैं। राज-पिंड के भय से यदि वे प्राणों को त्याग भी देंगे, तो भी राजा युधिष्ठिर का बाल बाँका भी न होने देंगे। इस संसार में लोभ से पुरुष धन-सञ्चय नहीं कर सकते, अतः हे तात भरतर्षभ! लोभ को छोड़ दो और पांडवों से सन्धि कर लो।

११

इस प्रकार के सत्यान्वित, राजनीति-पूर्ण, कठोर और गम्भीर शब्द कहकर वह महाराणी चुप हो गई। कुछ लोग समझते होंगे कि दुर्योधन पर इनका प्रभाव पड़ा होगा। नहीं, उसके सिर पर तो काल चक्कर काट रहा था। दुर्योधन यम-द्वार का कारण बन रहा था, मानो उसके निमित्त से अनेक क्षत्रिय-वंशों का विध्वंस होने वाला था। उसने माता के प्रेम से भरे हुए शब्दों का ही केवल अनादर न किया, अपितु वह तो समस्त आर्य-राज-प्रथा का उल्लंघन करके सन्धि के दूत भगवान् मधुसूदन को पकड़ने का प्रपञ्च रच रहा था। इंगितज्ञ सात्यकि की कुशलता के कारण इस षड्यन्त्र का पता श्रीकृष्ण को लग गया। तब महाराज धृतराष्ट्र को सम्बोधन कर के वे कहने लगे—"राजन्, आपका पुत्र दुर्योधन मुझे पकड़ने का षड्यन्त्र रच रहा है, या तो आप उसे इस काम से पराङ्मुख कीजिए अथवा मुझे स्वतंत्रता दीजिए कि मैं उसका दमन करूँ। मैं एकाकी ही इस कार्य में समर्थ हूँ, अनुचर; मंत्री सहायक आदि सहित आपके पुत्रों को पकड़ कर मैं पांडवों के हाथ में सौंप सकता हूँ; यह मेरे लिए

असाध्य नहीं है, परन्तु क्रोध-जन्य इस निन्दित मति को मैं अपनाना नहीं चाहता।" यह सुन धृतराष्ट्र अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने दुष्ट-मति दुर्योधन को समझाना चाहा, पर वह न माना। तब यदुवीर कृष्ण अपना बल दिखाकर उसके मनोरथ को असफल कर वहाँ से विदा हुए। वे कर्ण को अपने साथ रथ पर बिठा लाए। हस्तिनापुर से बाहर आकर भगवान् कृष्ण बोले—"हे कर्ण! भीष्म, द्रोण और कृप को कह देना कि समय मंगलकारी है, अतः कुरुक्षेत्र में वे युद्ध के लिए तैयार रहें। जब तुम उस महान् संग्राम में सफेद घोड़ों वाले, कृष्ण से चलाये गये रथ को देखोगे, जिस पर कि महावीर अर्जुन ऐन्द्र, आग्नेय और वायव्य अस्त्रों को चलायेगा, जब गाण्डीव की ध्वनि विद्युत् की कड़क को मात करेगी, तब कृत, त्रेता और द्वापर के पुरातन युद्ध भी फीके पड़ जायेंगे और भयंकर लोक-क्षय होगा।"

कर्ण ने कहा—"जनार्दन, हम जो इस वीर-वंश-विनाशक महायुद्ध से सकुशल जीते बचे तो फिर तुमसे भेंट होगी, और जो मर गये तो स्वर्ग में तुमसे मिलेंगे।"

यों कह कर दोनों गाढ़ आलिंगन कर विदा हुए। कर्ण हस्तिनापुर लौट आये और श्रीकृष्ण तीव्र गति से रथ हँकवाते हुए युधिष्ठिर के पास चले।

१२

पुण्य-तीर्थ कुरुक्षेत्र में इन्द्रदेवता वाली अमावास्या के दिन महाभारत का अश्रुत-पूर्व युद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध आरम्भ होने के पहले दुर्योधन धर्मशीला माता गान्धारी से आशीर्वाद लेने के लिए गया। उस धर्माचारिणी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है अधर्म को कभी विजय नहीं होती।" कुल अठा-

रह दिन में वह विकराल युद्ध समाप्त हो गया। पितामह शरशय्या पर पड़ गये, आचार्य द्रोण, अंगराज कर्ण, मद्रदेशाधिपति शल्य, अर्जुनसुत अभिमन्यु, पांचालनरेश द्रुपद, मत्स्यराज विराट् आदि सब वीर परमधाम को सिधारे। लाखों पुरुषों ने यम-लोक का मार्ग पकड़ा। कौरवदल में केवल तीन योद्धा—कृपाचार्य, कृतवर्मा और द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—बचे। दूसरी ओर पाँचों पाण्डव, कृष्ण और सात्यकि बचे। जब विजय की प्रसन्नता पाण्डवों के मन में आह्लाद उत्पन्न कर रही थी, तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से यह समयोचित बात कही कि हे माधव, आप इस समय हस्तिनापुर में जाकर देवी गान्धारी को प्रशान्त करें और सान्त्वना दें। उनके सब पुत्र मारे गए हैं, इसलिए उनको सन्तोष देना परमावश्यक है।

युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को ही धृतराष्ट्र और देवी गान्धारी के पास भेजा, इसका एक विशेष कारण था। धर्मराज ने जब देखा कि भीमसेन ने क्षात्र-नियम को भंग करके दुर्योधन को मार गिराया, तब वे पतिव्रता गान्धारी का स्मरण करके अत्यन्त भयभीत होगए। उन्होंने सोचा कि अद्वितिया तपस्विनी गान्धारी अपने क्रोध से तीनों लोकों को भस्म कर सकती है। इस प्रकार विचार करते-करते उनके मन में यह आया कि सब से पहले महारानी गान्धारी का कोपानल शान्त करना चाहिये। जब वे सुनेंगी कि धर्मयुद्ध करते हुए दुर्योधन को हमने अन्याय से परास्त किया है, तब पुत्र-शोक और क्रोध से अधीर होकर वे हम सब को भस्म कर देंगी। इसी विचार से युधिष्ठिर ने भगवान् वासुदेव को ही सबसे पहले हस्तिनापुर भेजा। कृष्ण के सिवा उस समय दूसरा कोई व्यक्ति न था, जो पाण्डवों को इस दुःख-सागर से पार कर सकता। श्रीकृष्ण दारुक से चलाए हुए रथ पर बैठ कर शीघ्र ही हस्तिनापुर

पहुँचे। वे सूचना देकर सीधे महाराज धृतराष्ट्र के भवन में प्रविष्ट हुए। वेद-वेत्ता महर्षि व्यास पहले ही से वहाँ उपस्थित थे। कृष्ण जी ने व्यास और धृतराष्ट्र के पैर छूकर गान्धारी को प्रणाम किया। शिष्टाचारोचित अन्य बातों के पश्चात् कृष्ण बोले—"राजन्! भूत और भविष्य की गति आपसे तिरोहित नहीं है। पाण्डवों ने युद्ध के निवारण के लिए अनेक यत्न किए थे। मैं भी इसीलिए दूत बन कर आपकी सभा में आया था, परन्तु आपके पुत्र-स्नेह ने कोई सफलता न होने दी। आपने भीष्म, द्रोण और कृप आदि की बात पर कोई ध्यान न दिया। काल के प्रभाव से सब की बुद्धि नष्ट हो जाती है। आप बुद्धिमान होते हुए भी उसी भावी के प्रभाव से मोहित होकर सदा सन्धि के प्रस्ताव की उपेक्षा करते रहे। आप चाहते तो यह संग्राम न होता। महाराज! इस अनर्थ के लिए पाण्डव दोषी नहीं हैं। अतः आप को और देवी गान्धारी को पाण्डवों का अनिष्ट न सोचना चाहिए। यदि आप दोनों ने पाण्डवों का अनिष्ट सोचा तो इस कौरव-कुल का अब अन्त हो जायगा। हे महाबाहो! आप भली प्रकार जानते हैं कि धर्ममूर्ति युधिष्ठिर स्वभाव से ही आप दोनों पर प्रेम और भक्ति रखते हैं। अपकारी शत्रुओं का अन्त करके भी वे सुखी नहीं हैं। आप की और माता गान्धारी की दशा का ध्यान करके उनका हृदय शोकाग्नि से अहर्निश जलता रहता है। वे लज्जा के मारे आपके सम्मुख नहीं आ सकते और आप दोनों को पुत्र-शोक-अभितप्त, हतबुद्धि और व्यथित जानकर वे अपने को धिक्कार रहे हैं।

१३

तत्पश्चात् मधुसूदन पुत्र-शोक-पीड़िता गान्धारी से बोले—"हे पतिव्रता-शिरोमणि, मेरी बातों को ध्यान से सुनो। मैं जानता

हूँ कि इस समय इस भूलोक पर तुम्हारे समान गुण-वती, बुद्धिमती, तपस्विनी और पतिव्रता स्त्री दूसरी नहीं है। हे रानी, तुम जानती हो कि तुमने मेरे सम्मुख राजसभा में दुर्योधन को धर्मार्थ युक्त और उभय-पक्ष के कल्याण-जनक वचन कहे थे, किन्तु दुर्योधन ने उनकी अवहेलना की थी। हे कल्याणी, युद्ध से पूर्व विजय-कामना करने वाले दुर्योधन ने जब तुम से आशीर्वाद माँगा था, तब तुमने निष्पक्ष दृष्टि से ये कठोर शब्द कहे थे—"हे मूढ़ ! जिधर धर्म है उधर ही जय है।" इस समय आपका वही धर्म-युक्त कथन सत्य सिद्ध हुआ है। हे देवि ! आदि से अन्त तक विचार करके शोक मत करो। हे महाभागे, पाण्डवों पर कृपा-दृष्टि करना और उनके विनाश का सङ्कल्प कदापि न करना। मैं जानता हूँ कि तुम अपने तपोबल से क्रोध की दृष्टि डालकर समस्त पृथ्वी और चराचर को दग्ध कर सकती हो।"

श्रीकृष्ण के सन्तोप-पूर्ण वचन सुनकर गान्धारी बोली—"हे केशव ! तुम्हारा कथन सत्य है। तीव्र पुत्र-शोक ने मेरी बुद्धि को वस्तुतः विचलित कर दिया था और मैं पाण्डवों का अनिष्ट करने पर उद्यत थी, परन्तु तुम्हारे वचन सुनकर अब मेरी बुद्धि स्थिर है। जनार्दन, इन पुत्र-हीन अनाथ शोकाकुल वृद्ध महाराज की गति अब वीर पाण्डव और तुम्हीं हो।" इतना कहकर वह संतप्त-हृदया गान्धारी वस्त्र से अपना मुख ढक कर उच्चस्वर से रोने लगी। उसके सामने एक-एक करके वे सारे दृश्य फिरने लगे। अभी कुछ दिन पहले वह भारत-सम्राट् की माता थी, पर आज काल की गति से वह दीना और पुत्र-शोक-विह्वला नारी है। गान्धारी की ऐसी अवस्था देखकर कृष्ण जी ने उन्हें फिर समझाया बुझाया। वहाँ से कृष्ण पुनः पाण्डवों के पास आ गए।

१४

कृष्ण जी के चले जाने के कुछ काल उपरान्त राजा धृतराष्ट्र गान्धारी, कुन्ती और कौरवों की सब स्त्रियों को साथ लेकर रथों पर सवार हो युद्धक्षेत्र की ओर चल पड़े। उस काल का उन देवियों के विलाप का वर्णन नहीं किया जा सकता। जो राज-रानियाँ कभी घरों से बाहर न निकलती थीं, वही आज मुक्त-केशा एक-एक धोती पहने रोती हुई जा रही थीं। विधाता के सामने कोई पल नहीं मार सकता। उन देवियों के करुण-रुदन ने भयंकर प्रलय काल का दृश्य उपस्थित कर दिया था।

मार्ग में ही धृतराष्ट्र की पाण्डवों और श्रीकृष्ण से भेंट हुई। राजा धृतराष्ट्र ने उदासीन भाव से युधिष्ठिर को गले लगाया। तत्पश्चात् वे भीम को खोजने लगे। शोक-रूपी पवन से परिवर्द्धित धृतराष्ट्र के कोप की अग्नि भीमसेन-रूपी वन के दग्ध करने को उद्यत सी प्रतीत होती थी। कृष्ण जी इस भाव को ताड़ गए। भीमसेन ज्यों ही आगे बढ़ने लगा, त्योंही श्रीकृष्ण ने दोनों हाथों से उसको खींच लिया। दुर्योधन ने भीम की एक लौह-मूर्ति तैयार करा रखी थी। वह उस मूर्ति के साथ गदा-युद्ध किया करता था। अनागत काल को जानने वाले भगवान् मधुसूदन ने इसी काल को जानकर वह मूर्ति अपने पास रख ली थी। उन्होंने वही मूर्ति धृतराष्ट्र के आगे कर दी। धृतराष्ट्र ने उस लौह-भीम को वास्तविक भीम जान कर छाती से लगा कर दोनों हाथों से इतने बल से दबाया कि वह मूर्ति चूर-चूर हो गई। राजा धृतराष्ट्र का बल सुविख्यात था, फिर भी लौह-मूर्ति को चूर्ण करने पर उनके मुख से रक्त जाने लगा और धृतराष्ट्र मूर्छित हो गये। सञ्जय ने उनको थाम लिया और चेतना आने के बाद कहा—"महाराज! यह

आप को उचित नहीं था ।" तब राजा धृतराष्ट्र को बहुत खेद हुआ और उन्होंने पश्चात्ताप किया । इसके अनन्तर उन्होंने पाँडवों को गले लगाया। उन्हीं की आज्ञा से श्रीकृष्ण सहित पांडव गान्धारी के पास आए।

पांडवों को पास आया देख गान्धारी का पुत्र-शोक पुनः जागरित हो उठा, उसके मन में युधिष्ठिर को शाप देने का विचार उत्पन्न हुआ। त्रिकालज्ञ भगवान् व्यास उस समय वहाँ उपस्थित हो गए। उन्होंने गान्धारी को उपदेश दिया, और स्मरण कराया कि तुम स्वयं कहती थीं कि जिधर धर्म होगा, उधर जय होगी, फिर अब शोक करने से क्या लाभ ?

व्यास जी के प्रशान्त वचनों को सुनकर गान्धारी बोली—"भगवन् ! न तो मैं पांडवों से द्वेष करती हूँ और न उनका अन्त ही चाहती हूँ, परन्तु मैं विवश हूँ। पुत्र-शोक की असह्य-पीड़ा मेरे हृदय-कमल को सुखा रही है। मैं जानती हूँ कि मेरा और महाराज का काम है कि हम कुन्ती के समान पांडवों की रक्षा करें, दुष्टमति दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कर्ण के अपराध से ही कौरव-कुल का नाश हुआ है। इसमें युधिष्ठिर आदि का कोई अपराध नहीं है। परन्तु भगवन् ! दारुण पुत्र-शोक से मेरा हृदय भरा आता है। इसलिए कभी-कभी मैं अपने आपे से बाहर हो जाती हूँ। उस समय मेरे दुर्बल चित्त को किसी प्रकार का बोध नहीं होता। जब से मैंने यह सुना है कि भीम ने दुःशासन के वक्षःस्थल को विदीर्ण कर रुधिर पान किया और वासुदेव के सामने रहते हुए भी भीमसेन ने युद्ध-नीति का उल्लंघन कर गदा-युद्ध में दुर्योधन की जाँघ में गदा का प्रहार किया है और इस प्रकार अन्याय से उसके प्राण लिए हैं, तब से मेरे हृदय में क्रोधाग्नि

सुलग रही है। संसार जानता है कि गदा-युद्ध में भीम की अपेक्षा दुर्योधन बहुत अधिक निपुण था, यदि इस प्रकार नीति-विरुद्ध कार्य न होता तो वीर दुर्योधन सहज में ही न मारा जाता ?

तब भयभीत भीम विनय-पूर्वक बोला—"माता ! यह सत्य है कि मैंने शूरोचित कर्म नहीं किया। दुर्योधन बड़ा बली था। उसका मारना सरल न था और उसके जीते जी हमारा राज्य अकटंक नहीं था, अतः मैंने ऐसा कर्म किया। हे माता ! जब दुर्योधन ने द्रौपदी को कौरव-सभा में दुर्वचन कहे थे, और जाँघ ठोककर निंद्य संकेत किया था और दुःशासन ने उस एक-वसना का चीर-हरण करना चाहा था, तब क्रोध में आकर मैंने प्रतिज्ञा की थी, और उस प्रतिज्ञा का पालन मेरे लिए आवश्यक था। इसमें पहल आपके पुत्र ने ही की थी। वह तो वनवास में भी हमें कष्ट पर कष्ट देता रहा. इन्हीं कारणों से कुपित हो मैंने उसे मार डाला। अब आप उसके लिए मुझे क्षमा करें।"

गान्धारी और भीम की ये बातें होती रहीं। अन्त में विह्वला गान्धारी अत्यन्त करुणा-पूर्ण स्वर में बोली—

"हे पांडवो ! तुमने वृद्ध महाराज और मुझपर अणुमात्र भी दया न दिखाई, हमारे सभी पुत्रों को तुमने क्यों मार डाला। उन सब में से तुम्हारी दृष्टि में जो एक कम अपराधी था उसे तो तुम छोड़ देते। राजहीन और पुत्र-शोक से संतप्त हम दोनों स्त्री-पुरुष उसी एक को देखकर अपने शेष दिन अति-वाहित करते, वही एक हमारा सहारा—अन्धों का आश्रय होता। इस धर्म का विचार करके यदि तुम हमारे एक पुत्र को भी छोड़ देते तो हमारा पुत्र-शोक कुछ न्यून हो जाता।"

पुनः पुत्र-पौत्रों की मृत्यु से परम व्यथित महारानी ने भीम

से क्रोधपूर्ण स्वर से पूछा—"राजा युधिष्ठिर कहाँ हैं ?" तब भय से काँपते हुए, कर-बद्ध महाराज युधिष्ठिर उसके सामने आए और ये मधुर वचन बोले—"हे देवि ! आपके पुत्रों का अन्त करने वाला निन्दनीय युधिष्ठिर मैं आपके सम्मुख खड़ा हूँ। माता ! वस्तुतः मैं ही शाप के योग्य हूँ। आप अपने शाप से मुझे भस्म कर दें। मैंने आत्मीय जनों का संहार करके बड़ा बुरा कर्म किया है। मेरे ही कारण भूमण्डल के अनेक क्षत्रिय-कुलों का नाश हुआ है।"

युधिष्ठिर के इन विनीत वचनों को सुनकर गान्धारी कुछ नहीं बोली। पर क्रोध के कारण गान्धारी का श्वास फूल गया था। उनका क्रोध शान्त करने के लिए झुका हुआ युधिष्ठिर उनके चरणों पर गिरने लगा था। धर्मज्ञा और दीर्घदर्शिनी गान्धारी ने अपनी पट्टी के भीतर से युधिष्ठिर की अंगुलियों के अग्रभाग पर दृष्टि डाली। युधिष्ठिर के अत्यन्त दर्शनीय नख गान्धारी की दृष्टि पड़ते ही काले हो गए। ऐसी अवस्था देखकर अर्जुन श्री वासुदेव के पीछे जा छिपा। दूसरे पांडव भी इधर-उधर होने लगे। परन्तु कुछ काल के अनन्तर गान्धारी का क्रोध नष्ट हो गया। वह उन पाण्डवों को मातृवत् तसल्ली देने लगी। तब गान्धारी की आज्ञा से पांडव अपनी माता कुन्ती से मिलने गये एक ओर माता को पुत्रों के मिलने का सुख था और दूसरी ओर भूमि पर गिरी हुई आर्तनाद करती हुई द्रौपदी की दशा देखी नहीं जाती थी। कुन्ती ने द्रौपदी को उठाया और दोनों गान्धारी के पीछे चलने लगीं।

द्रौपदी की इस दीन दशा को देखकर देवी गान्धारी बोली—"हे पुत्री, तुम इस प्रकार से शोक मत करो, देखो मैं स्वयं कैसे

घोर दुःख में पड़ी हूँ। मैं मानती हूँ कि यह लोकविनाश इस काल में होना ही था, यह तो अवश्यम्भावी था। जब कृष्ण अपने दूत-कार्य में सिद्धि-सम्पादन किये बिना ही लौट गये थे, तब विदुर ने मुझ से कहा था कि घोर लोक-क्षय अब अनिवार्य है। हुआ भी वस्तुतः ऐसा ही। अब समर में मारे गये लोगों के लिए शोक करना वृथा है। पुत्री! तुमसे मैं अधिक दुखी हूँ। यह कौरवकुल का संहार मेरे ही कारण हुआ है।"

इतना कहकर पतिव्रता और महाभागा गान्धारी चुप हो गई। व्यास की कृपा से उसे दिव्य चक्षु प्राप्त हो गये। वहीं खड़ी-खड़ी वह उस समर-भूमि का दृश्य देखने लगी। वह रण-क्षेत्र अस्थि, केश, वसा और शोणित के प्रवाह से व्याप्त हो रहा था। चारों ओर लाखों लाशें पड़ी थीं। मांसाहारी पशु-पक्षी इधर उधर घूम और उड़ रहे थे। कहीं कटे हुए रुंड थे, तो कहीं मुंड दिखाई दे रहे थे।

तत्पश्चात् व्यास जी की अनुमति से वे सब लोग शीघ्र ही समर-क्षेत्र में पहुँच गए। गान्धारी के हृदय में शोक की पीड़ा ने एक बार पुनः तीव्रता धारण की। सहस्रों सुकुमारी स्त्रियाँ अपने बन्धु-बान्धवों की लाशों के पास खड़ी विलाप कर रही थीं। गान्धारी भी दुर्योधन की लाश के पास पहुँच गई। वहाँ पहुँच कर शोक-संतप्ता गान्धारी कटे हुए कदली-वृक्ष के समान पृथिवी पर गिर पड़ी। गान्धारी का करुण-क्रन्दन असह्य था। उसकी अनवरत अश्रुधारा से दुर्योधन का वक्षःस्थल भीग गया।

समीप-स्थित श्रीकृष्ण से गान्धारी ने कहा—हे वार्ष्णेय! कुलान्तकारी इस घोर युद्ध के उपस्थित होने पर राजा दुर्योधन हाथ जोड़ कर मुझ से बोला, कि हे माता! बन्धुओं के इस महा-युद्ध में आप मेरी जय का आशीर्वाद दें। मैं अपने ऊपर आने

वाली इस आपत्ति को जानती हुई बोली—"हे पुरुषव्याघ्र, जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।" हे पुत्र, जब तू अपने भाइयों से किसी प्रकार भी युद्ध किए बिना नहीं मानता, तो जा फिर युद्ध कर, तू निश्चय ही शस्त्र-निर्जित लोकों को प्राप्त होगा और स्वर्ग में रहेगा। हे प्रभो! इस लिए मैं दुर्योधन के मरने का शोक नहीं करती। मैं कृपण और हतबान्धव महाराज के लिए शोक करती हूँ।

"हे मधुसूदन! काल का विपर्यय बड़ा बलवान् है। यही मेरा पुत्र अभी चार दिन हुए सारी पृथिवी का स्वामी था, सहस्रों राजा उसके आगे नतशिर रहते थे, तेरह वर्ष तक इस ने असपत्न राज्य भोगा, और आज यह धूलि में पड़ा सो रहा है। इसी की आज्ञा से ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र हो गई थी, इसे ही भीम ने भूमि पर गिरा दिया। इसकी मृत्यु से अधिक तो मुझे उन स्त्रियों का रोना अधिक रुला रहा है, जो इस क्षेत्र में दीख पड़ती हैं। वह देखो, लक्ष्मण की माता आर्तनाद कर रही है। उसका पुत्र और भर्ता दोनों मारे गए हैं। हे माधव! मेरी स्नुषाओं की दशा मुझको शतगुण दुखी किए देती हैं। वह दुःशासन मरा पड़ा है, वह विकर्ण और वह चित्रसेन पड़ा है। यह देखो वैकर्तन कर्ण पड़ा है। आज इसकी वही दशा है, जैसी वातभग्न वृक्ष की होती है।" इसी प्रकार गान्धारी ने एक एक करके अनेक कुरु-योद्धाओं का स्मरण किया।

इन सब वीरों का स्मरण करती हुई, शोक से मूर्च्छित गान्धारी भूमि पर गिर पड़ी। उसके धैर्य का अन्त हो गया, वह अत्यन्त दुःख में शौरि को शाप देने लगीं।

१५

हे कृष्ण! पाण्डव और धार्तराष्ट्र जब क्रुद्ध हुए हुए एक

दूसरे का विनाश कर रहे थे, तब तुमने उनके विनाश की उपेक्षा क्यों की ? तुम शक्त थे, बलवान् थे और तुम्हारे पास भृत्य और सेना भी थी, तुम दोनों पक्षों से बलपूर्वक अपनी आज्ञा मनवा सकते थे, फिर शास्त्र-वेत्ता होते हुए भी तुमने युद्ध क्यों होने दिया ? हे मधुसूदन ! जान-बूझ कर भी तुमने कौरवों का नाश होने दिया, इसलिए हे महाबाहो, इसका फल तुम भी भोगोगे ।

पति की सेवा से जो थोड़ा बहुत तप मैंने उपार्जित किया है, उसी से हे चक्र-गदा-धर ! मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि पारस्परिक कलह और बन्धु नाश के लिए उद्यत कुरु और पाण्डवों को तुमने नहीं रोका, इसलिए हे गोविन्द, तुम भी इसी प्रकार अपने बन्धु-बान्धवों का नाश देखोगे। हे मधुसूदन, आज से छत्तीसवें वर्ष, तुम्हारे बन्धु, तुम्हारे अमात्य, तुम्हारे पुत्र, सब परस्पर लड़कर नष्ट हो जायँगे। तुम अनाथवत्, अज्ञातरूप से बिना किसी से देखे गए मरोगे, तुम्हारी मृत्यु बुरे प्रकार से होगी। तुम्हारी स्त्रियाँ भी भरत-कुल की इन स्त्रियों के समान पुत्र और बन्धु-बान्धवों के नाश से व्याकुल हो भूमि पर गिरेंगी ।

इस घोर वचन को सुनकर महामना वासुदेव कुछ-कुछ हँसते हुए देवी गान्धारी से बोले—"हे क्षत्रिये ! इस भावी को तो मैं पहले ही जानता हूँ, इसमें संशय नहीं कि वृष्णि लोग दैव के कारण ही नष्ट होंगे। मेरे सिवा वृष्णि-चक्र का संहर्ता अन्य कोई नहीं है। मनुष्य तो क्या देवता और दानव भी वृष्णियों को मार नहीं सकते वस्तुतः यादव परस्पर के कलह से ही मरेंगे, परन्तु हे शुभे, तुमने इस अनिष्ट-कर भावी को अपने मुख से कहकर अपना तप नष्ट कर लिया है। भगवान् जनार्दन के ऐसा कहने पर पाण्डवों के चित्त में अत्य-धिक भय प्रविष्ट हुआ, और वे अपने जीवन से भी निराश हो गए।

१६

शोकाकुला गान्धारी भूमि पर गिरी हुई थी। श्रीकृष्ण ने पुनः उसे कहा—गान्धारि! उठो और अपने शोक को दूर करो। तुम्हारे ही अपराध से कुरु लोग मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। तुम्हारा पुत्र दुरात्मा था, ईर्षालु और अभिमानी था, वह निष्ठुर, वैर-प्रिय और वृद्धों की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला था, ऐसे दुर्योधन को दोष न देकर और अपने किये पर न पछता कर तुम मुझ पर कैसे दोषारोपण करती हो? मृत या नष्ट पुरुष का जो कोई शोक करता है, वह दुःख से दुःख को प्राप्त करता है। स्मरण रखो, ब्राह्मणी तप के लिए, गाय भार ढोने के लिए, घोड़ी दौड़ने के लिए, शूद्रा सेवा के लिए, वैश्या पशुपालन के लिए और तुम्हारे सदृश राजपुत्री समर में मरने के लिए ही पुत्र उत्पन्न करती है। अतः तुम्हें शोक करना उचित नहीं।

वासुदेव के इन अप्रिय वचनों को सुनकर शोक-व्याकुल-लोचना गान्धारी चुप हो गई।

१७

मृतकों की और्ध्वदेहिक क्रिया करके राजा धृतराष्ट्र अपने सम्बन्धियों सहित हस्तिनापुर को लौटे। वे नगर के अन्दर प्रविष्ट नहीं हुए। उन्होंने एक मास तक नगर के बाहर ही वास किया। तत्पश्चात् गान्धारी और धृतराष्ट्र को एक सुसज्जित पालकी में बिठाकर और स्वयं रथ पर आरूढ़ हो, अपने मित्रों और बन्धुओं सहित राजा युधिष्ठिर ने नगर में पदार्पण किया। नगर-प्रवेश के पश्चात् युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ। श्रीकृष्ण, सात्यकि और राजा धृतराष्ट्र सुन्दर आसनों पर युधिष्ठिर के पास बैठे थे। उस

समय अन्य सम्बन्धियों सहित यशस्विनी गान्धारी, युयुत्सु और सञ्जय भी धृतराष्ट्र के समीप बैठे थे।

श्रीकृष्ण और राजा धृतराष्ट्र ने शङ्ख लेकर महाराज युधिष्ठिर का स्वयं अभिषेक किया। ब्राह्मणों को सहस्रों सुवर्ण मुद्राएँ दी गईं। स्वस्ति-वाचन और जय-जय-कार के शब्दों से नभोमण्डल पूरित हो गया। तब युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों और प्रजाजनों को सम्बोधित करके कहा कि महाराज धृतराष्ट्र हमारे परम देवता और आदरणीय पिता हैं, यदि आप लोग हमारा प्रिय चाहते हैं, तो महाराज की आज्ञा मानना आपका प्रथम धर्म है। आप लोग सदा इनकी भलाई का ध्यान रखें।

१८

युधिष्ठिर को राज्य करते-करते अब पन्द्रह वर्ष हो गए। धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा के अनुसार धृतराष्ट्र और गान्धारी की सेवा का अत्यधिक ध्यान रखा जाता था। युधिष्ठिर ने अपने भाइयों से कह रखा था कि हमारे ही कारण से इनके पुत्र, पौत्र मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, अतः इनकी सेवा और भक्ति में किसी प्रकार की कसर न रहने पाए, और इनको अपने पुत्र, पौत्रों का अधिक शोक न होता रहे। युधिष्ठिर के इस सुप्रबन्ध के कारण पतिव्रता गान्धारी भी पुत्रों का शोक भूल कर पाण्डवों पर पुत्र-तुल्य स्नेह करने लगीं, और धृतराष्ट्र भी पाण्डवों पर बहुत प्रीति करने लग पड़े थे। युधिष्ठिर की सज्जनता से बूढ़े राजा और रानी बड़े सन्तुष्ट थे।

युधिष्ठिर के भय से भीमसेन भी धृतराष्ट्र की प्रतिष्ठा करते थे परन्तु चित्त में उनसे उदासीन रहते थे। दुर्योधन की दुष्ट नीति का भीमसेन को विस्मरण नहीं हो सका। दुर्योधन ने जो जो कष्ट

पांडवों को दिए थे, वे भीम के हृदय में शल्य के समान चुभा करते थे। भीमसेन गुप्तरूप से कई वार धृतराष्ट्र का अनिष्ट भी कर देता था। वह उनकी आज्ञा का भी उल्लंघन कर जाता था।

एक दिन भीमसेन ने अपने शत्रु दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण आदि की याद करके, कोप से दुःखी होकर ये कठोर वचन कहे—"अन्ध राजा धृतराष्ट्र के पुत्र मैंने अपनी भुजाओं के बल से परलोक को भेज दिए। यह मेरे सुदृढ़ अजेय बाहु ही हैं कि जिनके बीच में पड़ कर सब धार्तराष्ट्र क्षय को प्राप्त हुए। ये चन्दन-लिप्त भुजाएँ वन्दनीय हैं कि जिन्होंने पुत्र और बन्धुओं सहित दुर्योधन को यम का मार्ग दिखाया। सर्व-धर्मज्ञा गान्धारी भीम के इन और ऐसे ही अन्य शल्य-तुल्य वचनों को सुनकर चुप हो रही, परन्तु राजा धृतराष्ट्र के मन में खेदाग्नि उद्दिप्त हो उठी। धृतराष्ट्र भीम के वाग्रूपी बाणों से पीड़ित हो उठा। वृद्ध राजा के मन में यह भावना पक्की हो गई कि गृहस्थ का त्याग करके अब तप करना चाहिए।

तब राजा धृतराष्ट्र ने अपने मित्र-जनों को बुलाया और अश्रु-पूर्ण नेत्रों से कहा—"आप जानते हैं कि कुरुओं का क्षय किस प्रकार से हुआ है। मेरे ही अपराध से यह सारा नर-संहार हुआ है। मन्दमति मैंने ही दुर्योधन को कौरवों का राजा अभिषिक्त किया था। मैंने ही वासुदेव के अर्थयुक्त वचनों का अनादर किया था, मैंने ही विदुर, भीष्म, द्रोण और कृप की सम्मति का तिरस्कार किया था। गान्धारी और सञ्जय के हित-वाक्यों को परे फेंका था इसलिए ये बातें शल्य के समान मेरे हृदय में चुभती रहती हैं। अब इस पन्द्रहवें वर्ष में तो मेरा संताप और भी बढ़ गया है और मैं आत्म-शुद्धि के लिए सदा ही प्रयत्न करता रहता हूँ।

मैं अब पेट भर कर भोजन नहीं करता। कभी चौथे और कभी आठवें काल में थोड़ा-सा भोजन करता हूँ ! इस मेरे वृत्त को गान्धारी जानती है। मैं भूमि पर सोता हूँ। और कुशासन पर बैठकर सदा जप-परायण रहता हूँ । यशस्विनी गान्धारी भी इसी वृत्ति का आश्रय कर रही है।

हे तात युधिष्ठिर ! कुरु-कुल के लोग पहले भी वन में जा कर तपस्या करते रहे हैं, अतः मैं भी वल्कल-वस्त्र-धारी हो कर गान्धारी के साथ वन में वास करना चाहता हूँ। मैं और गान्धारी वायु-भक्षण करके अथवा निराहार रह कर प्रायश्चित करना चाहते हैं। हे राजन् ! इसका फल तुम्हें भी मिलेगा और मेरा भी कल्याण होगा।

युधिष्ठिर को यह बात अच्छी न लगी। उसने अनेक प्रकार के अनुनय-विनय करके बारम्बार वृद्ध चाचा से प्रार्थना की कि वह वन-गमन का विचार त्याग दें, परन्तु धृतराष्ट्र का विचार अब दृढ़ हो चुका था। वह फिर कहने लगे—"हे अजातशत्रु ! मेरा वन जाने का संकल्प दृढ़ है, तुमने मेरी बड़ी सेवा की है, अब तुम मुझे वन जाने की आज्ञा दो।" राजा युधिष्ठिर हाथ बाँधे खड़ा था, और काँप रहा था। उसे ये वचन कह कर अम्बिका-सुत धृतराष्ट्र, विदुर और संजय आदि से कहने लगा—मेरा मन म्लान है, मुख सूख रहा है, वयोवृद्ध होने से और बहुत बोलने से मैं क्षीण-प्राय हो रहा हूँ।" इतना कहकर गान्धारी का आश्रय लेकर राजा बेहोश हो गया।

राजा की यह दीन अवस्था देखकर युधिष्ठिर बोला—"जिसमें अनेक हाथियों का बल था, जिसने लोहमयी मूर्ति को चूर्ण कर दिया था, वही राजा आज नारी का आश्रय लेकर प्राण-विहीन

के समान सो रहा है।" युधिष्ठिर के अनेक उपचारों ने राजा को पुनः संज्ञा-युक्त किया। उसी समय सत्यवती-पुत्र भगवान् व्यास वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने कहा कि वृद्ध राजा का वानप्रस्थी होना ही श्रेयस्कर है। युधिष्ठिर ने व्यास जी की आज्ञा को शिरोधार्य किया और धृतराष्ट्र के वन जाने का निश्चय हो गया।

१९

सब कौरव-राज्य में समाचार फैल गया कि राजा धृतराष्ट्र वानप्रस्थी हो रहे हैं। हस्तिनापुर में एक महती सभा एकत्र हुई। धृतराष्ट्र ने सब प्रजाजनों और ब्राह्मणों से अपने दोषों के लिए कर-बद्ध क्षमा माँगी और कहा—"आगे से आप लोग युधिष्ठिर की आज्ञा में चलना। युधिष्ठिर का अधिकार छीन कर हमने भूल की थी। उसका फल हमने भोग लिया। युधिष्ठिर से बढ़कर धर्म-परायण राजा तुम्हें नहीं मिलेगा। मेरे पुत्र मूर्ख थे। हे सभा-जनो! गान्धारी समेत मैं हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग कृपा कर दुर्विनीत, लोलुप मेरे पुत्रों का दोष भूल कर मुझे वन जाने की आज्ञा दें।"

धृतराष्ट्र की ऐसी वक्तृता सुन कर जनपद के लोगों को बड़ा क्लेश हुआ। उन में शाम्बव्य नाम का एक ऋग्वेदीय आचार्य था। वह अर्थशास्त्र-निपुण और बड़ा श्रेष्ठाचारी था। उसने उचित शब्दों में राजा की वक्तृता का उत्तर दिया। तत्पश्चात् धृतराष्ट्र ने अनेक दान-पुण्य किए और कुन्ती तथा गान्धारी सहित वन को चल पड़े। विदुर और सञ्जय ने भी उनका साथ किया। पतिव्रता गान्धारी की आँखों पर पट्टी बँधी हुई थी, वह कुन्ती के कन्धे पर हाथ रखे हुए थी और राजा धृतराष्ट्र ने गान्धारी के कन्धे पर हाथ रखा हुआ था। प्रजाजन शोक में व्याकुल थे और

दूर तक उनके पीछे चलते गए। अन्त को सब प्रजा-जन और युधिष्ठिर आदि पाण्डव लौट आए।

२०

तब विदुर की अनुमति से धृतराष्ट्र ने भागीरथी-तीर पर निवास किया। गान्धारी और धृतराष्ट्र जब स्नान कर चुके तब कुन्ती उन्हें अपने स्थान पर ले आई। वहाँ सब ने सन्ध्या अग्निहोत्र किया। तदनन्तर वहाँ से वे कुरुक्षेत्र गये। कुरुक्षेत्र में शतयूप का आश्रम था। शतयूप केकयों का एक बड़ा प्रतापी राजा था। अपने पुत्र को राज्य देकर उसने वन में प्रवेश किया था। वहाँ से धृतराष्ट्र शतयूप के साथ व्यास के आश्रम को गये। व्यास से उन्होंने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की, और व्यास की आज्ञा से शतयूप ने उन्हें वनवास की सारी रीति बता दी। अब धृतराष्ट्र ने अपनी तपस्या आरम्भ की। वल्कल-वस्त्र-धारिणी कुन्ती और गान्धारी भी घोर तपस्या में प्रवृत्त हो गयीं। इतने में देवर्षि नारद परि-भ्रमण करते हुए वहाँ पहुँचे। नारद जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि व्यास जी के बताए हुए मार्ग से आप गान्धारी सहित श्रेष्ठ गति को भी प्राप्त होंगे। शतयूप के पूछने पर नारद ने पुनः कहा कि धृतराष्ट्र अभी तीन वर्ष तक और तप करेंगे, तब इनका प्राणान्त होगा।

२१

माता कुन्ती और राजा धृतराष्ट्र आदि के चले जाने से युधिष्ठिर का चित्त सदा उदास रहा करता था। उनको वन में गए एक वर्ष हो चुका था। तब युधिष्ठिर ने निश्चय किया कि परिवार सहित वन में जा कर माता आदि के दर्शन किए जायँ। प्रजा में से भी अनेक जन वृद्ध महाराज के दर्शन को जाने के

लिए तैयार हो गए। उन सब के साथ युधिष्ठिर ने कुरुक्षेत्र में प्रवेश किया। जब धृतराष्ट्र का आश्रम कुछ दूर से दिखाई देने लगा, तब युधिष्ठिर आदि सब लोग सवारियों से नीचे उतर पड़े। आर्य-मर्यादा के अनुसार मुनि-आश्रम में उनका पैदल जाना ही उचित था। कुछ ही काल में सब लोग मृग-परिपूर्ण, कदली-वन-शोभित उस रमणीय आश्रम में पहुँच गये। वह आश्रम तपस्वियों से भरा हुआ था। तपस्वियों ने युधिष्ठिर और उनके साथियों का स्वागत किया। राजा युधिष्ठिर ने तपस्वियों से प्रेम-पूर्वक अपने चाचा का समाचार पूछा। मुनियों ने कहा कि वे गङ्गा की ओर गए हैं, आप भी उधर जा सकते हैं। उधर ही जा कर पाण्डवों ने धृतराष्ट्र, गान्धारी और अपनी माता के दर्शन किए। रोता हुआ सहदेव कुन्ती के चरणों पर गिर पड़ा। कुन्ती की आँखों में भी आँसू आ गये! उसने गान्धारी से कहा कि पाण्डव आए हैं। इतने में ही शेष भाइयों ने शीघ्र आगे बढ़ कर धृतराष्ट्र और गान्धारी को नमस्कार किया। गान्धारी और कुन्ती ने जल के भरे हुए घड़े उठाये हुए थे। पाण्डवों ने वे घड़े उनसे ले लिए और युधिष्ठिर ने सब आगन्तुकों का परिचय महाराज से कराया। तदनन्तर सब लोग धृतराष्ट्र के आश्रम की ओर लौटे।

२२

आश्रम में अनेक मुनि लोग आगन्तुकों को देखने के लिए एकत्र हो गये थे। मुनियों के पूछने पर सञ्जय ने सारे पाण्डव-परिवार का परिचय उनसे करा दिया। पांचों पाण्डवों, उनकी स्त्रियों, उत्तरा, तथा कौरव दल की विधवाओं के दर्शन करके मुनि-जन अपने अपने स्थानों को चले गये। राजा धृतराष्ट्र ने सब लोगों का कुशल-क्षेम पूछा। एक दूसरे से अनेक प्रश्नों और उत्तरों के

पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने पूछा कि विदुर जी कहाँ हैं ? धृतराष्ट्र ने कहा कि धर्मावतार विदुर इस वन में निराहार रह कर और केवल वायु का भक्षण करके घोर तप कर रहे हैं । उनका शरीर अब बहुत क्षीण हो गया है। उनके दर्शनार्थ कई बार ब्राह्मण लोग भी इस वन में आते हैं। विदुर जी की जटाएँ बहुत बढ़ गई हैं और उनका शरीर धूलि में लिपटा रहता है । इतने में ही विदुर जी आश्रम के समीप दिखाई पड़े। युधिष्ठिर उनकी ओर दौड़े। उन्हें देख विदुर जी वन की ओर चल पड़े। युधिष्ठिर उनके पीछे था। विदुर जी कभी तो दिखाई देते थे और कभी अलक्ष्य हो जाते थे। अन्त में एक वृक्ष के समीप पहुंचकर और उसका आश्रय लेकर विदुर जी खड़े हो गये। इस स्थान में दोनों के अतिरिक्त और कोई नहीं था। वहीं पर युधिष्ठिर के देखते ही देखते विदुर ने योग-बल से अपना शरीर त्याग दिया। यह अद्भुत दृश्य देख युधिष्ठिर आश्रम को लौटे । उनके मुख से यह आश्चर्य-जनक वृत्तान्त सुन कर सब लोग अत्यन्त चकित हो गये।

तत्पश्चात् युधिष्ठिर आदि ने अपने चाचा के आश्रम से ही जल पिया और वहीं से लेकर फल-मूल खाए। इतने में युधिष्ठिर अन्य ऋषियों के आश्रम देखने के लिए निकले । जब वे लौट आये तो उन्होंने देखा कि गान्धारी सहित धृतराष्ट्र अपने आश्रम में बैठे हैं और शिष्या के समान विनय-भावयुक्ता कुन्ती उनके सामने बैठी है। पाण्डवों को इस आश्रम में रहते एक मास हो चुका था। इसी बीच में व्यास जी भी इस आश्रम में आ पहुँचे थे। उनके कहने से धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर आदि को हस्तिनापुर जाने का आदेश दिया। युधिष्ठिर कहने लगा कि शेष सब लोग हस्तिनापुर जायँगे, पर मैं आप के पास ही रहूँगा । यह सुन कर

गान्धारी कहने लगी—'हे पुत्र, तुम कौरव कुल-दीपक हो। इस कुल की सारी मर्यादा अब तुम पर ही है, अतः तुम्हें यहाँ रहना उचित नहीं है, तुम शीघ्र ही राजधानी को लौट जाओ।

पाण्डव अपनी राजधानी को लौट आये। इस बात को कोई दो वर्ष हो चुके। एक दिन महर्षि नारद युधिष्ठिर के पास आए। सत्कार आदि के पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिर से कहा कि मैं अभी धृतराष्ट्र के तपोवन से आ रहा हूँ। वहाँ जो कुछ मैंने देखा सुना है वही कहने के लिए मैं आपके पास आया हूँ।

जब आप सब लोग तपोवन से लौट आए, तब गान्धारी और कुन्ती सहित धृतराष्ट्र गंगा-तीर पर चले गए। वहाँ उन्होंने कुछ काल उपरान्त केवल वायु का भक्षण आरम्भ कर दिया और घोर तपस्या करने लगे। ऋषि लोग उनका बड़ा सम्मान करते थे। धृतराष्ट्र का शरीर तो अस्थियों का ढाँचा ही रह गया था। गान्धारी केवल जल पीकर तपस्या करती थी, और कुन्ती एक मास के पश्चात् एक दिन भोजन करती थीं। सञ्जय पाँचवें दिन भोजन करता था। इस प्रकार छः मास बिताने पर वे लोग पुनः तपोवन को लौट आए। सञ्जय ने धृतराष्ट्र का हाथ पकड़ा और कुन्ती ने गान्धारी का हाथ पकड़ लिया था। एक दिन गंगा-स्नान के पश्चात् जब धृतराष्ट्र आश्रम को लौटे, तब वन में सहसा आग लग गई। प्रचण्ड वायु के कारण वह दावानल वन को भस्म करने लगा। गान्धारी, कुन्ती और धृतराष्ट्र अति दुर्बल हो चुके थे। धृतराष्ट्र ने सञ्जय से कहा कि तुम शीघ्र इस वन से निकल जाओ, मेरी अब जीने की इच्छा नहीं है। मैं इसी अग्नि में जल कर परम गति प्राप्त करना चाहता हूँ। संजय के इनकार करने पर धृतराष्ट्र ने फिर कहा—"संजय ! मैं वानप्रस्थ हूँ, अतः मेरा

इस प्रकार प्राण-त्याग करना पुरानी प्रथा के अनुकूल ही है, तुम शीघ्र यहाँ से चले जाओ।" इतना कहकर गान्धारी और कुन्ती सहित राजा धृतराष्ट्र ने पूर्व की ओर मुख कर लिया। संजय ने उसकी प्रदक्षिणा की और उन्हें समाधि लगा लेने को कहा। वे तीनों तत्काल समाधिस्थ हो गए। उनका शरीर निश्चल था। कुछ काल पश्चात् अग्नि वहाँ तक पहुँच गई और उन तीनों ने अपना शरीर त्याग दिया।

संजय ने यह वृत्तान्त ऋषियों को सुनाया, और उनसे सब कुछ सुन कर मैं आपको यह बताने आया हूँ।

पाठक! आज के युग में और उस युग में कितना अन्तर हो गया है। आज कितने नर नारी है, जो इतना ऐश्वर्य भोग कर ऐसी घोर तपस्या कर सकते हैं।

विदुला

संधि के दूत वृष्णिवीर कृष्ण दुर्योधन के मुख से उसके दृढ़ निश्चय—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"—को सुन कर निराश हो कौरव-सभा से जा रहे थे। उन्होंने हस्तिनापुर में माता कुंती के दर्शन कर लेना आवश्यक समझा। तत्क्षण वे उनके महल की ओर चले। वहाँ पहुँच कर भगवान वासुदेव ने उनके चरणों में प्रणाम किया और संक्षेप में कौरवों की सभा का वृत्तान्त कह सुनाया।

माता कुंती ने उस समय मधुसूदन के द्वारा अपने पुत्र युधिष्ठिर के पास जो संदेशा भेजा था वह एक वीर-माता के सर्वथा उपयुक्त था। उन्होंने कृष्ण से कहा—भैया, तुम युधिष्ठिर से कहना कि बाहुबल से अपनी जीविका चलाना ही क्षत्रिय का धर्म है। ब्रह्मा ने क्षत्रिय जाति को अपनी भुजा से उत्पन्न कर उसकी यही वृत्ति नियत कर दी है। युद्धरूपी क्रूरकर्म और प्रजा-पालन ही क्षत्रिय का धर्म है। तुम क्षत्रिय हो, इसलिए तुम्हें बाहुबल से ही अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिए। हे शत्रुदमन! इससे बढ़कर कष्टकर और क्या होगा कि तुम जैसे शूर-पुत्र को उत्पन्न कर भी मैं पराये अन्न से पेट भर रही हूँ, इससे तुम राजधर्म के अनुसार युद्ध करो।

इसके साथ ही माता कुंती ने अपने पुत्रों को युद्ध-प्रयाण के लिए प्रोत्साहित करने के लिए वीर माता विदुला का निम्नलिखित आख्यान भगवान मधुसूदन को सुनाया।

प्राचीन काल में सौवीर-नरेश की सत्कुलोत्पन्न बुद्धिमती विदुला नाम की पत्नी थी। वह स्वाभिमानिनी उग्रस्वभाव वाली तथा नीति-कुशल थी। उसके पति के देहान्त हो जाने के अनन्तर पड़ौसी सिंधुराज ने सौवीर प्रान्त* पर आक्रमण कर दिया। विदुला का पुत्र संजय युद्ध में पीठ दिखाकर लौट आया। यह देखकर स्वात्माभिमानिनी विदुला का चेहरा लाल हो गया; उसके सारे शरीर से आग निकलने लगी। दीनभाव से पड़े हुए अपने पुत्र को देखकर वह उसे धिक्कारने लगी—"अरे शत्रुओं को आनन्द देने वाले कापुरुष, तू मेरे गर्भ और अपने पिता के वीर्य से नहीं पैदा हुआ। कुलकलंक! तू कहाँ से इस कुल में आगया रण में पीठ दिखा कर भाग कर आते हुए तुझे तनिक भी लज्जा नहीं आई। तेरी पुरुषों में गणना करना भी अनुचित है। तू तो पुरुषत्वहीन है, नपुंसक है। शत्रुओं के हाथ में राज्य सौंपकर भी तू जीवित क्यों बचा! हार कर, अपमान सहकर बन्धुओं को शोकातुर कर और शत्रुओं को आनन्दित कर जीवित रहने से तो समर-भूमि में मृत्यु ही कई गुना अच्छी है।

अरे कुलघातक! सर्प के मुख में हाथ डालकर उसके दाँत निकालने के प्रयत्न में प्राण दे देना श्रेयस्कर है, पर कापुरुष की

---

*प्राचीन-काल में आधुनिक सिंध प्रान्त सौवीर कहलाता था। और सिन्धु नदी के दूसरी ओर का प्रान्त—डेराजात इत्यादि—सिन्ध प्रदेश कहाता था। सौवीर की राजधानी रोरुक थी, जो आजकल रोरी के नाम से प्रसिद्ध है। पीछे से ये दोनों प्रान्त कई बार एक ही नरेश के आधीन रहे। तभी इन दोनों प्रान्तों को सिन्धु-सौवीर नाम से पुकारा जाता था।

तरह शय्या पर लेटे-लेटे मरना अच्छा नहीं। अतएव उठ, जीवन की आशा को छोड़कर पराक्रम दिखा। वज्रपात से मरे हुए पुरुष की तरह पड़ा न रह, अपितु अपने पौरुष से अपनी शुभ्रकीर्ति को प्रसारित करने का प्रयत्न कर। तेंदू की लकड़ी की तरह क्षण भर ही भले प्रज्वलित रह, परन्तु जीवन की आशा से ज्वाला-हीन भूसी की आग के समान विषाद के धुएँ से अपने को छिपा मत। रण-निपुण वीर पुरुष शत्रु से युद्ध ठानकर, पौरुष दिखाकर धर्म के ऋण से उऋण हो जाते हैं। वे आत्मग्लानि नहीं सहते। सफलता मिले अथवा न मिले, इसके लिए सहज-सूर चिंता नहीं करते। इसलिए हे पुत्र, या तो अपनी भुजाओं के बल से शत्रु-स्त्रियों के मुख पर शोक-कालिमा पोत दे अथवा प्राण दे दे। तू नहीं समझता कि तेरे कारण कुल की कीर्ति कितनी कलङ्कित हो रही है।

जन-समाज में जिसके अद्भुत महत्-चरित्र की चर्चा नहीं होती, जिसके पराक्रम की गाथा सुनकर रिपु-गण प्रकंपित नहीं हो उठते, उसकी गणना न स्त्रियों में हो सकती है, न पुरुषों में। उसका जन्म अजागल-स्तन के समान निरर्थक है।

हे कायर पुत्र ! स्मरण रख कि संसार में तिरस्कार-पात्र भोजन-वस्त्र से मोहताज, शत्रुओं के आनन्द बढ़ाने वाले हीनवीर्य व्यक्ति को पाकर उसके बंधु कभी सुखी नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि हमें स्थान भ्रष्ट, राज्य से निर्वासित, सब इच्छाओं से वंचित और दीन होकर बिना जीविका के मरना पड़ेगा। तुझे अपने गर्भ में धारण करने के कारण भी मैं निन्दित हूँ। मेरे समान कोई भी स्त्री ऐसे मन्युशून्य, साहस-रहित, वीर्यहीन पुत्र को पैदा न करे। बेटा! शत्रुओं के प्रति क्रोधी और क्षमाहीन

क्षत्रिय ही सच्चा पुरुष है। जो पुरुष दब्बू है, जिसमें आत्माभिमान नहीं, क्रोध नहीं, शत्रु से बदला लेने की सामर्थ्य नहीं, उसकी गणना पुरुषों में क्या स्त्रियों में भी नहीं हो सकती। अब पड़े-पड़े शोक से मलिन होने का अवसर नहीं है, शत्रुओं के सिर पर क्षण भर प्रज्वलित हो कर मर जाना ही अच्छा है। शूर, पराक्रमी, सिंह सा बली पुरुष अगर मर जाता है तो भी उसके अधिकार में रहने वाली प्रजा आनन्द से रहती है। इस कारण उठ अपने पराभव का प्रक्षालन कर। अपहृत संपत्ति और राज्य को फिर लेने की चेष्टा कर।"

माता के क्रोध भरे वचनों को सुन संजय ने कहा—माता! मैं समरांगण में मर जाऊँगा, तो तुम संपत्ति-आभूषण, सुख-भोग, और राज्य लेकर क्या करोगी?

विदुला ने कहा—"मैं तेरी मृत्यु नहीं चाहती पर तुझे पराधीन, निर्वीर्य, दीन-हीन पुरुषों के समान जीवित रहते हुए भी नहीं देख सकती। जो क्षत्रिय वृथा जीवन की आशा में फँस कर यथाशक्ति पराक्रम के साथ तेज नहीं दिखाता उसे पंडित लोग अधम कहते हैं। जैसे मृत्यु के मुख में पड़े हुए पुरुषों को औषध नहीं रुचती, वैसे ही जीवन को जीवन बनाने वाला यह सच्चा उपदेश तुझे नहीं रुचता।

बेटा! तेरा नाम सञ्जय अवश्य है, किन्तु जय पाने का पौरुष उद्योग तुझ में नहीं दिखाई देता। इसीलिए कहती हूँ कि अपना नाम सार्थक कर। जो पुरुष पौरुष के साथ नीति के अनुसार कार्य करता है, उसके कार्य की सिद्धि में अन्य पुरुष भी सहायक हो जाते हैं। उस का मनोरथ अवश्य पूरा होता है। हार हो या जीत राज्य मिले या न मिले, दोनों को समान समझ

कर दृढ़ संकल्प से युद्ध कर। बार-बार हारना भले ही पड़े, परन्तु उद्योग को न छोड़।

देख, मैं श्रेष्ठ-कुल की कन्या और श्रेष्ठ-कुल की वधू हूँ। कमलिनी जैसे एक सरोवर से दूसरे सरोवर में जाती है, वैसे ही मैं भी एक कुल से दूसरे कुल में आई हूँ। पिता के घर में राज्य सुख भोगती थी, सुसराल में आकर मैं राज्य की मालकिन हुई। परन्तु आज तेरे कारण मेरी यह दुर्दशा है। हे संजय! मुझे और अपनी भार्या को दीन-हीन दशा में देखकर क्या तुझे जीने में शान्ति मिलेगी। दास दासी, आचार्य, पुरोहित आदि सब जीविका के बिना जब तुझे छोड़ देंगे तब तेरे जीवन का प्रयोजन भी समाप्त हो जायगा! आज तक कभी मेरे या मेरे स्वामी के मुँह से याचक को देखकर 'नाहीं' नहीं निकली! अब यदि कोई याचक मुझ से कुछ माँगेगा तो उसे देने में असमर्थता देखकर मेरी छाती फट जायगी। इस दीन दशा में जब औरों के आश्रय में रह कर पेट पालना होगा तो मैं अवश्य प्राण दे दूँगी। हम सब परिवार के लोग इस चिंता में मृतसदृश हो रहे हैं, हमारे शरीर में जीवन डालना तेरा काम है। अतएव उठ, समर में शत्रु का नाश कर के अपने वंश का नाम उज्ज्वल कर। शोक से व्याकुल मित्र-मंडली में और आनन्द से उछलते शत्रुदल में मैं तुझे खिन्न और दीन-हीन पुरुष की तरह न देखूँ। तू शत्रु के देश—सिंधु देश—की कन्याओं के उपहास का भाजन न बन अपितु सौवीर-देश की कन्याएँ तेरा यशोगान कर आनंद प्राप्त करें। तू रूप, गुण, विद्या, यश और प्रतिष्ठा से युक्त नवयुवक है, औरों के अधीन होकर जीना तेरे लिए उचित नहीं है। प्रसिद्ध क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न होकर प्राणों के मोह से रण में पीठ दिखाना तेरे

लिए उपयुक्त नहीं। असमय में ही मर जाना अच्छा है, किन्तु चिर-उन्नत सिर को नीचा करना अच्छा नहीं।

संजय बोला—हे करुणा-हीन, क्रोधी और रुद्र स्वभाव वाली माता, जान पड़ता है तुम्हारा हृदय विधाता ने लोहे का बनाया है। मैं तुम्हारा एक-मात्र पुत्र हूँ, तो भी तुम दूसरे की माता, के समान कठोर वचन कह कर मुझे घोर युद्ध-भूमि में जाने को विवश कर रही हो। मैं पूछता हूँ, जो मैं तुम्हारा प्रिय पुत्र युद्ध में मारा गया तो तुम सारी पृथ्वी और राज्य ले कर क्या करोगी ?

विदुला ने उत्तर दिया—'बेटा, धर्म और अर्थ के उद्देश्य से ही मनुष्य सब कार्यों को प्रारंभ करता है। मैं उसी धर्म तथा अर्थ की सिद्धि के लिए तुझे युद्ध-भूमि में भेजती हूँ। देख, तेरे पराक्रम दिखाने का यही समय है। इस समय कर्त्तव्य-पालन में विमुख होने से लोक-समाज में तेरा अपमान होगा। मुझे यह तेरी मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी होगा। यदि तेरे अपयश की सम्भावना समझ कर भी पुत्र-स्नेह के कारण मैं तुझे अनुचित कार्य से न रोकूँ तो वह सच्चा स्नेह नहीं है। तू इस कायरता और मोह के अंधकार से निकल कर अपने कुल-धर्म का पालन कर तभी मैं प्रसन्न होऊँगी। शत्रु को जीतने से या युद्ध में मरने से—दोनों प्रकार—क्षत्रिय को इन्द्रलोक मिलता है और शत्रुओं को अपने अधीन करने से क्षत्रिय को जो सुख और समृद्धि मिलती है, इन्द्रलोक में भी उसका पाना असंभव है।

संजय बोला—माता ! पुत्र से तुम्हें ऐसी कठोर बातें न कहनी चाहिए। मुझ पराजित और निराश को कम से कम तुम तो सांत्वना दो।

विदुला ने कहा—बेटा ! तेरे ये वचन सुन मुझे बड़ी प्रसन्नता

हुई। तू ने मुझे माता का कर्त्तव्य बताया है। मैं भी तुझे तेरा कर्त्तव्य समझाती हूँ। हे वीर! जब तू सिंधुराज का सर्वनाश करके विजय प्राप्त कर लेगा, तब मैं तेरा अभिनन्दन करूँगी। तुझे आलिंगन कर मेरी छाती ठंढी होगी।

संजय ने कहा—माँ! न तो मेरे पास धन है, और न सेना है। फिर मैं किस प्रकार जय प्राप्त कर सकता हूँ, अपनी इस असहाय अवस्था को देखकर ही मैं निराश हुआ हूँ। दुष्कर स्वर्ग-लाभ के समान मैंने राज पाने की आशा छोड़ दी है। यदि मेरी कार्य-सिद्धि का कोई उपाय हो, तो मैं उसी के अनुसार आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

विदुला बोली—सिद्धि नहीं होगी, यह पहले ही सोचकर निराश हो जाना उचित नहीं। जय और पराजय निश्चित नहीं। जो पुरुष इस प्रकार फल को अनिश्चित समझ कर भी काम करना नहीं छोड़ता उसका मनोरथ सिद्ध हो भी सकता है और नहीं भी। किन्तु जो व्यक्ति फल को अनिश्चित समझ कर कार्य का उद्योग ही नहीं करता उसके मनोरथ का सिद्ध न होना निश्चित ही है। इस लिए सफलता पाने का निश्चय करके हृदय की व्याकुलता मिटा कर उद्यम के साथ प्रत्येक काम में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

संजय! प्रतीत होता है कि मेरे प्रोत्साहन-पूर्ण शब्दों से तुझे अपने प्रति ही ग्लानि हो रही है। बेटा, उठो सैन्य-संग्रह करो, पवन जैसे प्रचंड वेग से घन-घटाओं को छिन्न-भिन्न करने को बढ़ता है, वैसे ही जब तुम शत्रु सेना को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए प्रचंड वेग से बढ़ोगे तो साधन स्वयं तुम्हारा अनुकरण करेंगे! बलशालियों का शौर्य ही उन्हें विजय दिलाता है साधन नहीं। जब शत्रु समझ लेता है कि मेरा विपक्षी मरने-मारने को प्रस्तुत है तब वह स्वयं भयभीत हो जाता है।

बेटा! किसी प्रकार की भी आपत्ति आने पर पुरुष को किंकर्तव्यविमूढ़ न होना चाहिए। तेरे सुहृद मन-वाणी-काया से तेरे राज्य की रक्षा चाहते हैं, तू स्वयं डर से व्याकुल हो कर उन्हें भी निराश न कर। तू वही कर जिसमें वे तुझे भयभीत समझ कर तेरा साथ न छोड़ दें।

संजय क्षणिक कायरता-वश शत्रु के पराक्रम को देखकर भय-भीत हो गया था। माता के उत्साह-वर्धक, मनोहर हितकारक वचनों को सुनकर उसने अपने हृदय से भय और निराशा को दूर कर दिया और बोला—माता! तुम मुझे भावी कल्याण की आशा दिला कर उत्साहित कर रही हो, इससे या तो मैं जलप्लावित पृथिवी के समान अपने पिता के राज्य का उद्धार करूँगा, अथवा युद्ध में प्राण दे दूँगा।

इस प्रकार माता के तीव्र वाक्य-बाणों की चोट से सधे हुए घोड़े की तरह उत्तेजित होकर संजय ने शत्रु पर आक्रमण कर दिया, और अंत में विजय पायी।

कृष्ण को यह आख्यान सुनाकर कुन्ती ने विदा किया। पाण्डव महाभारत-युद्ध में प्रवृत्त हुए, अंत में विजयी हुए।

आज भारत की इस दीन-हीन अवस्था में कितनी माताएँ हैं जो अपने पुत्रों को ऐसा उपदेश देती हैं। उन्हें कार्य में प्रवृत्त करती हैं, उनमें साहस और शक्ति फूँकती हैं, और उनमें बलिदान की भावना भरती हैं।

गार्गी

१

भारत-युद्ध-काल विक्रम से कोई ३१०० वर्ष पहले माना जाता है। अत्यन्त प्राचीन समय से लेकर उस भारत-युद्ध-काल तक आर्यों की मर्यादा और संस्कृति बहुत सुरक्षित थी। उस समय यह आवश्यक नहीं समझा जाता था कि प्रत्येक नर, नारी गृहस्थ में प्रवेश करे। सहस्रों, लाखों मुनि आजन्म ब्रह्मचारी रहकर विद्योपार्जन, जप, तप और मनुष्य-सेवा में ही अपना कल्याण मानते थे। प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि एक बार ऐसे अस्सी हज़ार ऋषि एक ही काल में थे। उन दिनों पुरुष ही इस वृत्ति का अवलम्बन नहीं करते थे, वरन् उच्च कुलों की देवियाँ भी इस दुर्गम मार्ग पर चलने के लिए बद्ध-सङ्कल्प हो जाती थीं। धर्मशास्त्रों में ऐसी कुमारियों को ब्रह्मवादिनी नाम से पुकारा है। उनके तप और तेज की चर्चा दूर-दूर तक प्रसिद्धि प्राप्त करती थी।

मिथिलापुरी के राजसिंहासन पर सैकड़ों प्रतापी राजा बैठ चुके हैं। इतिहास में उन सब को जनक नाम से ही याद किया गया है। कई बार उनके निजू नाम भी हमें मिल जाते हैं। सीता के पिता का नाम सीरध्वज जनक था। इसी प्रकार महाभारत काल से कुछ पहले और पीछे भी कई धर्म ज्ञान-प्रवीण जनक हो चुके हैं। उनमें से धर्मध्वज, निमि और कराल आदि जनक बहुत प्रसिद्ध हैं।

इन्हीं तीन जनकों में से किसी एक की राजसभा में एक बार एक अत्यन्त रूपवती युवती उपस्थित हुई थी। सांख्य-ज्ञान में और योग-क्रियाओं में वह अद्वितीया थी। वह राजा जनक के ब्रह्म-ज्ञानी होने की परीक्षा लेने आई थी। प्रश्न किये जाने पर उसने कहा था कि उसका नाम सुलभा है और वह एक प्रतिष्ठित राज-कुल की कन्या है। अपने सदृश पति न मिलने के कारण से उसने सदा ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत धारण कर लिया था।

२

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध गर्ग-कुल में भी एक कन्या-रत्न उत्पन्न हुई। उसके पिता वचक्नु गर्ग थे। इसलिये वह कन्या वाचक्नवी भी कहाती थी। उस कन्या के हृदय में बाल्य-काल से ही वैराग्य का मूल जम गया। उसने सोचा कि विवाह-बन्धन में पड़कर वह अपनी उच्च-धारणाओं को पूर्ण नहीं कर सकेगी। अतः उसने आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा कर ली। अपने पिता और दूसरे ऋषियों से उस ने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया, और गार्गी ब्रह्म-वादिनी के नाम से विख्यात हुई।

महाभारत-कालीन किसी जनक ने एक बहुदक्षिणा-युक्त यज्ञ रचा। उस यज्ञ में कुरु-पाञ्चालों के अनेक ब्राह्मण एकत्र हुए। गर्ग भी इन्हीं स्थानों में से कहीं का रहने वाला था। उसकी कन्या भी उस यज्ञ में उपस्थित हुई। उस जनक के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि इन ब्राह्मणों में कौन सब से अधिक विद्वान् है। उसने एक सहस्र गायें मँगाई। उनमें से प्रत्येक के एक-एक सींग में दस दस मुद्राएँ बँधवाई। तब वह उन ब्राह्मणों से बोला—हे ब्राह्मणो! आप में से जो ब्रह्मिष्ठ है, वह इन गायों को ले जाए। उन ब्राह्मणों का साहस न हुआ कि गायों को ले जायँ। उन

ब्राह्मणों में एक ब्राह्मण बड़ा विद्वान् था। नाम था उसका याज्ञवल्क्य। उसने अपने शिष्य को कहा, हे सोम्य सामश्रवा! इन गायों को ले जाओ।

३

भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के चार प्रसिद्ध शिष्य थे। उनमें से एक वैशम्पायन था। इसी वैशम्पायन ने महाभारत-कथा जनमेजय को सुनाई थी। याज्ञवल्क्य इसी वैशम्पायन का भानजा था। पहले वह वैशम्पायन के पास विद्या अध्ययन किया करता था। एक दिन गुरु ने कई शिष्यों को कहा कि तुम सब अमुक प्रकार का तप और प्रायश्चित्त करो। याज्ञवल्क्य बोल उठा कि इन सब के प्रायश्चित्त करने से क्या लाभ होगा, मैं अकेला ही इन सब के बराबर तप और प्रायश्चित्त कर दूँगा। गुरु वैशम्पायन अपने भानजे की इस उद्धतता पर क्रुद्ध हो गये। तब से याज्ञवल्क्य ने उनका शिष्यत्व छोड़ दिया। वैशम्पायन का आश्रम त्याग देने के पश्चात् याज्ञवल्क्य ने असाधारण तप किया। उसी तप के प्रभाव से वह एक अद्वितीय ब्रह्मनिष्ठ हो गया। उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। महाराज युधिष्ठिर उसके बड़े भक्त थे। अपने समस्त बड़े बड़े कृत्यों में उन्होंने याज्ञवल्क्य को बुलाया था। वेद-विद्या-निपुण ऋषि भी याज्ञवल्क्य से बहुत कुछ पूछा करते थे।

४

जब याज्ञवल्क्य का शिष्य गायें ले गया, तब ब्राह्मणों को कुछ क्रोध आ गया। उन्होंने विचारा कि क्या याज्ञवल्क्य ही एक ब्रह्मिष्ठ है। अन्त को जनक के होता अश्वल ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! क्या हम सब में से तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो। तब याज्ञवल्क्य कहने लगे—"हम ब्रह्मिष्ठों को नमस्कार करते हैं, हम तो गायों की

कामना वाले हैं।" अश्वल को इतने पर सन्तोष नहीं हुआ। उसने याज्ञवल्क्य से वाद आरम्भ कर दिया।

उस वाद में अनेक ब्राह्मणों ने भाग लिया। वह वाद बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में लिपिबद्ध किया गया है। उसके पाठ से पता लगता है कि महाभारत-काल के विद्वान् किस प्रकार से वाद किया करते थे। उस वाद में भगवती गार्गी ने भी पूरा भाग लिया था इसीलिए उस वाद के गार्गी सम्बन्धी भाग आगे लिखे जाते हैं।

५

याज्ञवल्क्य ने अश्वल को चुप करा दिया। फिर जारत्कारव आर्तभाग भी याज्ञवल्क्य के उत्तरों से मौन होगया। तब भुज्यु-लाह्या-यनि, उषस्त चाक्रायण और कहोल कौषीतकेय, भी अपने अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर शान्त हो गए। तब वाचक्नवी गार्गी उठी। वह पूछने लगी—

गार्गी—संसार के सब पदार्थ जल में ओत-प्रोत हैं। तो यह जल किस में ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—वायु में।

गार्गी—वायु किस में ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—अन्तरिक्ष-लोक में।

गार्गी—अन्तरिक्ष-लोक किस में ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—गन्धर्वलोक में।

गार्गी—गन्धर्वलोक किस में ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—आदित्य लोकों में।

गार्गी—आदित्य-लोक किस में ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—चन्द्र-लोकों में।

गा०—चन्द्र लोक किस में ओत-प्रोत हैं ?

या०—नक्षत्र लोकों में।

गा०—नक्षत्र-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ?

या०—देव-लोकों में।

गा०—देव-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ?

या०—इन्द्र-लोकों में।

गा०—इन्द्र-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ?

या०—प्रजापति लोकों में।

गा०—प्रजापति-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ?

या०—ब्रह्म-लोकों में।

गा०—ब्रह्म-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ?

तब भगवान् याज्ञवल्क्य बोले, गार्गी ! अधिक मत पूछो, ब्रह्म-देवता में अधिक प्रश्न नहीं हो सकता। यह समाधि-गम्य विषय है। तर्क-वितर्क से परे हैं। याज्ञवल्क्य के ऐसा कहने पर वाचक्नवी गम्भीर विचार में लीन हो गई।

६

तब अरुण के पुत्र उद्दालक ने कहना आरम्भ किया। उद्दालक बड़ा ब्रह्मवादी था, परन्तु याज्ञवल्क्य को वह भी चुप न करा सका, प्रत्युत सब प्रश्नों के पूर्ण उत्तर पा जाने पर वह मौन हो गया।

तब वाचक्नवी फिर बोली, हे महा ऐश्वर्य वाले ब्राह्मणो ! मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूँगी, यदि वे इन दोनों का उत्तर दे देंगे, तो निश्चित जानो कि तुम्हारे में ऐसा एक भी नहीं, जो इन परम ब्रह्म-वेत्ता को जीत सके। यदि आप सबकी आज्ञा हो, तो पूछूँ। ब्राह्मणों से आज्ञा मिलने पर गार्गी बोली। उसने कोई नया प्रश्न

नहीं पूछा। जिस प्रश्न पर वह पिछली बार चुप हुई थी, उसे ही अधिक स्पष्ट रूप से जानने के लिए उसने गम्भीर भाव से कहा—"हे याज्ञवल्क्य! आपसे मैं दो प्रश्न पूछूँगी। जैसे काशीराज अथवा विदेहराज का कोई शूरवीर पुत्र ज्यारहित धनु को पुनः ज्या-युक्त करके शत्रुओं को अतिशय बींधने वाले और तीक्ष्णाग्रा-वाले दो तीरों को हाथ में लेकर उपस्थित हो, वैसे ही मैं दो प्रश्नों से आपके निकट उपस्थित हुई हूँ, उन दोनों का उत्तर आप मुझ से कहें।" याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे गार्गि! पूछो।"

तब वचक्नु की वह विदुषी पुत्री बोली—"हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथ्वी से नीचे है, जो इस द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में है, और जिसको भूत, वर्तमान और भविष्यत् कहते हैं, वह सब किस में ओतप्रोत है। याज्ञवल्क्य ने दो ही शब्दों में इसका सन्तोषजनक उत्तर दे दिया कि वह सब कुछ आकाश में ओत और प्रोत है

तब वह देवी बोली, हे याज्ञवल्क्य आपको मेरा नमस्कार हो। आपने मेरे इस प्रश्न की व्याख्या कर दी है। परन्तु अब आप दूसरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर देने के लिए यत्नवान् होवें। याज्ञवल्क्य ने फिर कहा—हे गार्गि! पूछो।

वह गार्गी तब कहने लगी—हे याज्ञवल्क्य, द्युलोक से जो ऊपर है, पृथ्वी से जो नीचे है, द्युलोक और पृथ्वी लोक के जो मध्य में है, और जिसको भूत, वर्तमान और भविष्यत् कहते हैं वह आप ने कहा, आकाश में ओत और प्रोत है, अब यह कहें, कि वह आकाश किस में ओत और प्रोत है।

याज्ञवल्क्य बोले, हे गार्गि! ब्रह्मवादी लोग निश्चय ही उसे अक्षर कहते हैं। वह न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ

है, उसकी तुलना किसी भी लौकिक पदार्थ से नहीं हो सकती। न लाल है, अर्थात् समस्त वर्णों से वह परे है। वह साँसारिक जीवों के समान स्नेह-रहित है, वह छाया-रहित है, क्योंकि उसका कोई शरीर नहीं। वह तो अज्ञान और अन्धकार से भी रहित है। वायु तक का उसमें प्रभाव नहीं। आकाश उसमें है, पर वह आकाश से रहित परम सूक्ष्म विद्यमान है। वह सङ्ग के समस्त दोषों से शून्य है। सङ्ग के सारे दोष प्राणियों को होते हैं, और वह इस कोटि से परे है। वह अरस है, प्राकृतिक रसों का उसमें अभाव है, परन्तु वह अपने ही रस—आनन्द में लीन है। वह अगन्ध है। वह नेत्र रहित है, यद्यपि वह अपनी अथाह शक्ति से सब कुछ देखता है। इसी प्रकार वह श्रोत्र से रहित है। सुनने की इन्द्रिय की उसे आवश्यकता नहीं है। वह तो अवाक् है, विना वाक् के ही उसके सारे काम सिद्ध हो जाते हैं। वह मन रहित है उसमें मनन का कोई विकार नहीं आता। वह तेजोरहित है। तेज, अग्नि या विद्युत से सम्बन्ध रखता है, परन्तु वह तो इन दोनों से परे है। वह अप्राण है, प्राण तो सांसारिक जीवनों के लिए ही अपेक्षित है, परन्तु उसका आधार प्राण के विना भी है। वह अमुख है, काया के सव वन्धनों से मुक्त है। वह अमाप है, अर्थात् उसे कोई माप नहीं सकता। मापे तो कोई तव, जव कि उस से वड़ा हो, परन्तु अन्त वाले पदार्थ उस अनन्त को कैसे माप सकते हैं। वह अनन्तर है, उस में किसी प्रकार का भी कोई अन्तर नहीं है, वह सर्वत्र एक रस है। उसका कोई वाहर नहीं है। वह अक्षर—अविनाशी किसी पदार्थ का भोग नहीं करता, और न ही कोई पदार्थ उसका भोग कर सकता है।

इतना कहते हुए याज्ञवल्क्य अलौकिक आनन्द में मग्न हो गए।

वह सारी सभा भी स्तब्ध थी, और गार्गी के आनन्द का तो कहना ही क्या है। फिर उसी आनन्द में मग्न याज्ञवल्क्य बोले, हे गार्गि ! इसी अक्षर—अविनाशी, सदा एक रस से स्थिर की आज्ञा में सूर्य और चन्द्र नियमित हो कर स्थिर हैं। इसी की आज्ञा से ये अपने अपने समय पर उदय और अस्त होते हैं, और इस प्रकार भ्रमण करते हुए संसार का सारा कार्य चलाते हैं। हे गार्गि, इसी परम अक्षर के सुशासन में द्युलोक और पृथिवी लोक नियमित होकर स्थित हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा में निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर, ये सब नियमित होकर स्थित हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा में रहती हुई कुछ नदियाँ श्वेत पर्वतों से निकल कर पूर्व दिशा की ओर बहती हैं और कुछ नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं, और जो जो नदियाँ जिस जिस दिशा की ओर बहती हैं, वे इसी अक्षर की आज्ञा में होती हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा में मनुष्य दानी की—उचित स्थान में त्याग करने वाले की—प्रशंसा करते हैं, देवता यजमान के अनुगामी होते हैं, और पितर दर्वी के पीछे चलने वाले होते हैं।

उतना कहते कहते याज्ञवल्क्य कुछ समाधिस्थ हो रहे थे। वे तो परम ज्ञान के तत्त्व खोल रहे थे। कहते हैं श्रेष्ठ गुरु किसी योग्य शिष्य के सामने ही यथार्थ-ज्ञान की ग्रन्थियाँ खोलते हैं, ब्रह्मवेत्ता, तत्त्वदर्शी लोग सत्पात्र में ही श्रेय ज्ञान का विकास प्रदर्शित करते हैं, अतः गार्गी सदृश आर्यदेवी के उस अनुपम प्रश्न का उत्तर देते हुए, परम प्रसन्नता में याज्ञवल्क्य बोल रहे थे। उन्होंने यहीं पर अपना कथन समाप्त नहीं किया, प्रत्युत गार्गी को सामने रखकर इस मर्त्यलोक के नर-नारियों पर असीम दया दर्शाते हुए वे ब्रह्मर्षि आगे बोले—

हे गार्गि ! जो इस अक्षर को न जान कर इस लोक में होम और यज्ञ करता है, दान और पुण्य करता है, अनेक सहस्त्र वर्षों तक तप तपता है, उसका वह सब कर्म अन्त वाला ही होता है। हे गार्गि ! इस अक्षर को न जान कर जो इस लोक से अपना गमन करता है, वह निश्चय ही कृपण है। उस ने यहाँ आ कर कुछ नहीं किया। हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जान कर ही इस लोक से प्रस्थान करता है, वह ब्राह्मण है, ब्रह्मवेत्ता है, ज्ञानवान् है, और परम पूज्य है।

अब सारे उत्तर का उपसंहार करते हुए याज्ञवल्क्य बोले, हे गार्गि ! सो यह अक्षर स्वयं अदृष्ट होने पर भी सब का द्रष्टा है। स्वयं अश्रुत होने पर भी श्रोता है। संसार में कोई दो पुरुष ऐसी बातें नहीं कर सकते, जिसे वह न सुनता हो। स्वयं मन-रहित होने पर भी वह सब के मनों को यथार्थ जानने वाला है। स्वयं अविज्ञात होने पर भी वह पूर्ण विज्ञाता है। उससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं, उससे भिन्न कोई अन्य श्रोता नहीं, उससे भिन्न कोई अन्य मन्ता नहीं, इस से भिन्न कोई अन्य विज्ञाता नहीं। हे गार्गि ! यह निश्चय करके जानो कि उसी अक्षर में यह आकाश-वस्त्र में सूत्रवत् ओत और प्रोत है।

यह सुन कर गार्गी बोली—पूज्य ब्राह्मणो ! इसको आप बहुत मानें, यदि इस याज्ञवल्क्य से नमस्कार करके आप छूट जावें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप लोगों में से कोई भी कभी इस ब्रह्मवित् याज्ञवल्क्य को न जीत सकेंगे। तब वह वाचक्नवी चुप हो गई।

गार्गी को अपने प्रश्न की महत्ता का और उसके यथार्थ उत्तर का पूर्ण ज्ञान था, वह यह भी जानती थी कि उस सभा में उस

जैसा सूक्ष्म प्रश्न करने वाला दूसरा नहीं है, अतः उसने अन्तिम निर्णय कर दिया कि कुरु-पाञ्चालों के विद्वान् इस वाद में याज्ञ-वल्क्य से जीत नहीं सकेंगे।

याज्ञवल्क्य की इस असाधारण योग्यता को देख कर गार्गी हृदय में अत्यधिक विस्मित हुई। चिर काल से वह किसी ऐसे ही योग्य गुरु की खोज में थी, जो पूर्ण ब्रह्मवेत्ता और योग शास्त्र में प्रवीण हो। अब उसने याज्ञवल्क्य में ये सब गुण प्रत्यक्ष देख लिए। राजा जनक से परम प्रीति होने के कारण याज्ञवल्क्य प्रायः मिथिला में ठहरा करते थे। गार्गी उनके स्थान पर पहुँची। उसने उनसे योग-शास्त्र जानने की इच्छा प्रकट की, वह इस के साथ योग की क्रियाएँ भी सीखना चाहती थी। तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने उसे अपना योगशास्त्र सुनाया। जप, तप, आचार और सिद्धियों की पूर्ण शिक्षा दी। देवी गार्गी ने भी ये सब क्रियाएँ अनन्य-मनस्का होकर सीखीं, और अपना सारा जीवन आत्म-शुद्धि और परोपकार में बिताया।

क्या आज भी कोई आर्य महिला इस प्रकार का उच्च जीवन व्यतीत करने के लिए सङ्कल्प करेगी। भारत भूमि और आर्य संस्कृति अनेक दुःखों में ग्रस्त हो रही हैं। कितनी देवियाँ निकलेंगी, जो अपने क्षणिक सुखों को त्याग कर किसी श्रेष्ठ व्रत में लग जायँगी।

KRISHNA [illegible]
[illegible] year

पद्मिनी

वीरप्रसू राजस्थान की गौरवमयी भूमि ने, विशेषतः मेवाड़ ने अपनी अद्भुत वीरता तथा आदर्श त्याग के कारण भारत का सिर सदा उन्नत किया है। स्वतंत्रता के लिए—देश के लिए राजपूतों ने, विशेषतः मेवाड़ियों ने, जो त्याग किये हैं—जितना बलिदान किया है उतना संसार में कदाचित् ही किसी देश ने किया होगा। तभी तो विदेशी विद्वान् जेम्स टॉड ने कहा था—

मिली हमें थर्मापली ठौर ठौर चहुँ पास।
लेखिय राजस्थान में लाखन ल्यूनीडास॥

तभी तो आधुनिक कवियों ने राजस्थान और मेवाड़ के वीरों की कहानी को लिखकर अपनी लेखनी को वैसे ही पवित्र किया है जैसा कि प्राचीन भारतीय कवियों ने रामायण और महाभारत की कहानी लिख कर। जहाँ एक ओर वंगभाषा के सुप्रसिद्ध नाट्याचार्य द्विजेन्द्रलालराय ने उसी की महिमा गाई है—

है मेवाड़ पहाड़ ये जिसकी लाल धुजा फहराती है।
दर्प पुराना चूर किया है यवनों का बतलाती है॥
धधकी रूपाग्नि पदमिनि की जहाँ प्रबल चहुँ ओर।
कूद पड़ी थी जिसमें सेना यवनों की घनघोर॥
है मेवाड़ पहाड़ यही जहँ लाल हुआ है नीर।
रक्त बहा मर मिटे जहाँ हैं लाखों छत्री वीर॥

वहाँ हिन्दी के राष्ट्रीय कवि भी मुक्त-कंठ से उसकी महिमा गा रहे हैं—

तेरी गौरवमयी गोद का,
रखने को सम्मान।
करते रहे सपूत निछावर,
हँसते हँसते प्राण।
हमारे प्यारे राजस्थान ॥
जौहर की ज्वाला में जिनकी,
थी अक्षय मुसकान।
धन्य वीरबालाएँ तेरी,
धन्य धन्य बलिदान।
हमारे प्यारे राजस्थान ॥

और भी—

धन्य धन्य मेवाड़ महान।
हिमगिरि-सा उन्नत यह मस्तक अखिल विश्व का है अभिमान
सदियों से चढ़ते आए हैं तुझ पर लक्ष लक्ष बलिदान
लोहू की लहरों में चलता तेरे गौरव का जलयान
बाप्पा रावल समरसिंह जी, भीमसिंह चूड़ा बलवान

दिल्ली के बादशाहों ने अनेक वार विराट सेनाओं के साथ मेवाड़ पर आक्रमण किया। उन्होंने अनेक वार मेवाड़ी-वीरों के मस्तक झुकाने का प्रयत्न किया पर हिमगिरि के शिखरों के समान वे मस्तक चिर-उन्नत रहे। या तो उसके वीरों ने विजय प्राप्त की या मेवाड़ के लिए अपने को स्वाहा कर दिया। उन्होंने अपने जीते-जी कभी शत्रु को भीतर न घुसने दिया। शत्रु ने जब मेवाड़ में प्रवेश किया तब खँडहर ही खँडहर देखे। इस प्रकार मेवाड़ का

कई वार सर्वनाश हुआ। यह सर्वनाश ही 'साका' कहाता है। इसी कारण मेवाड़ में 'मेवाड़ के साका' की शपथ खाने की परिपाटी चल पड़ी है। मेवाड़ के इतिहास में साढ़े तीन साका माने जाते हैं। अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ का विध्वंस पहला साका माना जाता है और आधा साका वह कहाता है जिसमें पद्मिनी की रक्षा के लिए पाँच हज़ार चुने हुए वीरों की प्राणाहुति दी गयी थी। सारांश यह कि हम देखते हैं कि रूपवती पद्मिनी के साथ मेवाड़ का डेढ़ साका संवद्ध है।

यह रूपवती पद्मिनी कौन थी इसके बारे में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। रानी पद्मिनो के सुविशाल प्राचीन महल चित्तौड़ में एक तालाव के तट पर वड़े ही रमणीय स्थान पर बने हुए हैं। एक छोटा सा दुमंज़िला महल उक्त तालाव के भीतर भी वना है। ये महल बहुत-ही जीर्ण हो गये थे, जिससे महाराणा सज्जनसिंह ने इनका जीर्णोद्धार करवाया। ये महल अब तक लोगों में पद्मिनी के नाम से प्रसिद्ध हैं और वह तालाव अव तक पदमणी (पद्मिनी) का तालाव कहलाता है।

प्रसिद्ध सूफी फ़कीर शेख़ मोहदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य जायस-निवासी मलिक मुहम्मद ने चित्तौर की इस रूपवती महारानी पद्मिनी को कथा का आधार वनाकर 'पद्मावत' नामक अद्भुत ग्रंथ की रचना की है। यद्यपि इस कहानी के नायक और नायिका इतिहास-प्रसिद्ध हैं परन्तु कहानी का रूप वही है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इसका पूर्वार्द्ध तो सर्वथा कल्पित है, पर उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। संक्षेप में पद्मावत की कथा इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप (लंका) में गंधर्वसेन नामक राजा राज करता था।

उसकी पटरानी चंपावती से पद्मिनी या पद्मावती नामक अत्यंत रूपवती एवं गुणवती कन्या उत्पन्न हुई। उस अनिंद्य-सुन्दरी के लिए कहीं योग्य वर न मिलता था। पद्मिनी के पास हीरामन नामक एक सुशिक्षित वाचाल और कांचनवर्ण का तोता था। एक दिन वह तोता पद्मावती से उसके वर न मिलने के विषय में कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। राजा के डर से सूआ एक दिन उड़ गया। पद्मावती ने सुन कर बहुत विलाप किया। सूआ वन में उड़ता-उड़ता एक बहेलिये के हाथ पड़ गया। जिसने बाजार में लाकर उसे चित्तौड़ के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। ब्राह्मण ने वह तोता चित्रसेन के पुत्र और चित्तौड़ के राजा रतनसेन के हाथ एक लाख रुपये में बेच दिया। धीरे-धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगा। एक दिन राजा शिकार को गये हुए थे, तब उस की पटरानी ने एक बार सुन्दर शृंगार किया और अपने रूप के घमण्ड में आकर सूए से पूछा कि संसार में मेरे समान सुन्दरी भी कहीं है? इस पर तोता हंसा और बोला—

जेहि सरवर महँ हंस न आवा, बगुला तेहि सर हंस कहावा।

ईश्वर ने संसार में एक से एक बढ़कर सुन्दरी स्त्रियाँ बनाई हैं, पर सिंहलद्वीप की पद्मिनी के रूप की उपमा ही नहीं दी जा सकती। वह इतनी सुन्दर है कि उसमें और तुम में दिन और अँधेरी रात का अंतर है। रानी ने इस भय से कि कहीं यह तोता राजा के सम्मुख भी पद्मिनी के रूप की प्रशंसा न कर दे, उसे मारने की आज्ञा दी। पर दासी ने राजा के भय से उसे मारा नहीं, अपने घर में छिपा कर रख दिया। शिकार से लौटने पर जब तोते के बिना राजा रतनसेन बहुत व्याकुल और क्रुद्ध हुआ तब तोता लाया गया और उसने राजा से सारी कहानी कह दी और

पद्मिनी के रूप-गुण की खूब प्रशंसा की। पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुनकर राजा ने उसे पाना चाहा और वह योगी होकर सिंहलद्वीप की ओर चल पड़ा। उसके आगे-आगे मार्ग-प्रदर्शक वही तोता था और साथ में अनेक राजकुमार योगियों के भेष में थे।

विविध संकट सहता हुआ योगियों का दल कलिंग से जहाजों पर सवार होकर सिंहलद्वीप में पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर राजा तो शिव के एक मंदिर में अपने साथियों सहित ठहर गया और तोते ने पद्मावती के पास पहुँच कर अपने पकड़े जाने तथा राजा रतनसेन के यहाँ बिकने का सारा आख्यान बताते हुए चित्तौड़ के राजवंश की महत्ता एवं राजा रतनसेन के रूप, कुल, ऐश्वर्य तेज आदि की प्रशंसा करके कहा कि तुम्हारे लिए सब प्रकार से योग्य वर वही है। पद्मिनी ने भी उसके दर्शन करने चाहे। वसंतपंचमी के दिन विश्वेश्वर की पूजा के लिए पद्मिनी अपनी सखियों सहित शिव मंदिर में गई जहाँ उसने योगी भेषधारी राजा रतनसेन को देखा। इसके अनंतर राजा रतनसेन के साथियों और राजा गंधर्वसेन की सेना का युद्ध हुआ। जिसमें गंधर्वसेन की सारी सेना हार गई। तत्पश्चात् रतनसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया, और कुछ दिनों के उपरान्त दोनों चित्तौड़गढ़ आ गए।

राजा रतनसेन के दरबार में राघवचेतन नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहता था। किसी कारणवश क्रुद्ध हो राजा ने उसे देश से निकाल दिया। राजा से बदला लेने और भारी पुरस्कार पाने की आशा से राघव दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के पास पहुँचा, और उसने बादशाह के सम्मुख पद्मिनी के अलौकिक रूप का वर्णन किया। जिससे प्रसन्न होकर उस लंपट सुलतान ने उसको बहुत कुछ पुरस्कार दिया और पद्मिनी को उसी क्षण भेज देने के लिए

राजा रतनसेन को लिखा। जिसे पढ़कर राजा अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। इस पर सुलतान ने विशाल सैन्य सहित चित्तौड़ गढ़ पर चढ़ाई कर दी। उधर रतनसेन ने भी अपने अनेक राज-सामंतों को युद्ध में सहायता के लिए आमंत्रित कर लिया। घमासान युद्ध प्रारंभ हुआ—

उनई आइ दोउ दल गाजे, हिन्दू तुरुक दोउ सम बाजे
धरती सरग दोऊ दल जूर्हिं ऊपर जूह, कोई टरै न टारै दोनों बज्रसमूह

सुलतान निरंतर आठ वर्ष तक चित्तौड़गढ़ को घेरे रहा, परन्तु दुर्ग विजय न कर सका। इस समय सुलतान को दिल्ली से सूचना प्राप्त हुई कि विदेशी शत्रु ने पश्चिम से आक्रमण कर दिया है और राज्य संकट में है। यह समाचार पाकर सुलतान अत्यधिक चिंताग्रस्त हुआ। अंत में उसने छल पूर्वक संधि का प्रस्ताव भेजा और कहलाया कि हम अव पद्मिनी को नहीं माँगते। इस पर विश्वास कर राजा ने सुलतान का चित्तौड़ में आतिथ्य किया सुलतान चित्तौड़ की अनुपम शोभा समृद्धि तथा जलाशय के मध्य में बने हुए पद्मिनी के महल आदि को देखकर स्तब्ध-सा हो गया। गोरा और बादल नामक दो वीर सामंतों ने राजा को संकेत किया कि बादशाह अवश्य छल करेगा, इससे सावधान रहें परन्तु राजा ने उनके कथन पर विश्वास न किया। राज-महल की असंख्य रूपवती दासियों को देखकर सुलतान ने राघव से पूछा कि इन में पद्मिनी कौन सी है! राघव ने उत्तर दिया—ये तो पद्मिनी की सेवा करने वाली दासियाँ हैं। भोजन से निवृत्त होकर सुलतान और राजा दोनों शतरंज खेलने लगे। सुलतान के सामने एक दर्पण रखा हुआ था। जिसके द्वारा एक झरोखे में आई हुई पद्मिनी का प्रतिबिंब उसने देखा। उसके अनिंद्य-सौंदर्य को देख कर वह खेलना भूल गया।

रात्रि में भी सुलतान उसी गढ़ में ही रहा। दूसरे दिन प्रातः राजा के प्रति अत्यंत स्नेह दर्शा कर उसने वहाँ से प्रस्थान किया। राजा भी उसे पहुँचाने को चला। प्रत्येक पोल (द्वार) पर सुलतान राजा को नानाविधि भेंट देता गया। परन्तु सातवीं पोल के बाहर निकलते ही उसने राजा को बंदी कर लिया। और उसके पैरों में बेड़ी तथा हाथों में हथकड़ी डालकर दिल्ली की ओर ले चला।

पद्मिनी को जब यह समाचार मिला, तब वह बहुत व्याकुल हुई। उस विकट अवस्था में क्या करना चाहिए, यह परामर्श करने के लिए उसने अपने गोरा तथा बादल दो सामंतों को बुलाया। उन्होंने सम्मति दी "शठे शाठ्यं समाचरेत्" की नीति पर ही इस समय अनुसरण करना चाहिये। उनके परामर्श के अनुसार तत्क्षण १६०० डोलियाँ तैयार कराई गई जिनमें पद्मिनी की सखियों के स्थान पर सशस्त्र सैनिकों को बिठाया गया। तदनन्तर पद्मिनी सहित सब ने दिल्ली की ओर प्रयाण किया। दिल्ली पहुँचते ही सुलतान को सूचित किया गया कि पद्मिनी स्वयं ही यहाँ आई है तथा आपसे प्रार्थना करती है कि यदि आज्ञा दी जाय तो वह राणा से आधा घंटा एकान्त में अन्तिम साक्षात् कर ले तथा चित्तौड़ के कोष आदि की कुंजियाँ राणा को दे दे, तदनन्तर उसी क्षण वह आपकी सेवा में उपस्थित हो जायगी। कामांध सुलतान ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। आज्ञा मिलते ही एक ढकी पालकी राजा की कोठरी के पास रख दी गई। उसमें से एक लोहार ने निकल कर राजा के बंधन काट दिये। राजा और रानी तुरन्त पहले से ही सुसज्जित घोड़े पर सवार हो दलबल सहित नगर से बाहर निकल आये। इस कपट का समाचार पाते ही सुलतान ने अपनी सेना राजा और रानी को पकड़ने के लिये भेजी। राजा और रानी

की रक्षा के लिए बादल उनके साथ गया और गोरा पीछा करने वाली सुलतान की सेना को रोकने के लिए कई वीरों सहित मार्ग में डट गया। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ जिसमें कई योद्धा हताहत हुए और गोरा भी वीरगति को प्राप्त हुआ। बादल ने राजा और रानी के साथ चित्तौड़ में प्रवेश किया। जहाँ बड़ा हर्षोत्सव मनाया गया।

जब सुलतान ने राजा को पकड़ लिया था, तब कुंभलनेर (कुंभलगढ़) के राजा देवपाल ने दूती भेजकर पद्मिनी को प्रलोभन दिखाना चाहा था। अब रानी के मुख से देवपाल की दुष्टता का वृत्तान्त सुनने पर राजा ने कुंभलनेर पर चढ़ाई कर दी। वहाँ देवपाल से युद्ध हुआ। जिसमें देवपाल मारा गया और रतनसेन उसके हाथ की सांग से आहत होकर चित्तौड़ को लौटा और बादल के कंधों पर चित्तौड़गढ़ की रक्षा का भार डाल कर स्वर्ग सिधारा। उसकी दोनों रानियाँ पद्मावती और नागवती राजा के शव के साथ ही हँसते-हँसते सती हो गई। इतने में सुलतान ने चित्तौड़गढ़ पर फिर चढ़ाई की। बादल बड़ी वीरता से लड़कर समरशय्या पर गिर पड़ा। अन्त में दुर्ग बादशाह के हाथ लगा। भीतर आने पर उसने देखा कि सब खेल समाप्त हो चुका था केवल उसके लिए मुट्ठी भर राख रह गई थी। उसने एक मुट्ठी राख उठाली—

राख उठाय लीन्ह एक मूठी, दीन्ह उड़ाय पिरथवी झूठी,

इस कथा की समाप्ति पर जायसी ने इस सारी कथा का एक रूपक बतलाकर लिखा है—"इस कथा में चित्तौड़ शरीर का, राजा रतनसेन मन का, सिंहलद्वीप हृदय का, पद्मिनी बुद्धि की, तोता मार्ग-प्रदर्शक गुरु का, नागमती सांसारिक कार्यों की, राघव

शैतान का, सुलतान अलाउद्दीन माया का सूचक है जो इस प्रेम-कथा को समझ सकें, वे इसे उसी दृष्टि से देखें"।

इतिहास के अभाव में लोगों ने मुहम्मद जायसी द्वारा वर्णित ऐतिहासिक उपन्यासों की सी कविता-बद्ध कथा को वास्तविक इतिहास मान लिया। यद्यपि उसमें बहुत सा भाग कल्पित था तथापि वह कथा इतनी प्रचलित होगई थी कि 'पद्मावत' बनने के ७० वर्ष के पश्चात् मुहम्मद कासिम फ़िरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीख फिरश्ता' में इस कथा को थोड़े परिवर्तन के साथ सम्मिलित कर दिया। उसमें पद्मिनी को राय रतनसेन की कन्या बताया है। शेष पद्मिनी की चतुरता का उसी प्रकार वर्णन है। इस प्रकार फ़िरिश्ता ने उस औपन्यासिक कथा को सर्वथा इतिहास का रूप दे दिया।

विदेशी विद्वान कर्नल जेम्स टॉड ने इस गौरवमयी कथा को कुछ और ही रूप दिया है, और इस कहानी को अधिक रोचक बना दिया है। साधारणतया यही कहानी आजकल अधिक प्रचलित है। इतिहास और काव्य-ग्रन्थ प्रायः इसी कथा को आज तक अपनाते आ रहे हैं। उनके लेख का सारांश है—विक्रमी संवत् १३३१ में (ई० स० १२७४ में) चितौड़ के सिंहासन पर लखमसी (लक्ष्मणसिंह) बैठा। किन्तु वह अभी बालक था। अतः उसकी ओर से राजकार्य का संचालन उसके चाचा भीमसी (भीमसिंह) करते थे। भीमसिंह बलवान और बुद्धिमान थे। उन्होंने अनेक बार अपने साहस और शक्ति से शत्रुओं को परास्त किया था। प्रजा उनकी भुजाओं की छाया में सुख-भोग रही थी। उनका विवाह सिंहलद्वीप के राजा हम्मीरसिंह चौहान की अनिंद्य-सुन्दरी पुत्री पद्मिनी से हुआ था।

पद्मिनी के अनुपम सौंदर्य की गाथा जब दिल्ली के विषयी सुलतान अलाउद्दीन ने सुनी, तो उसने पद्मिनी को अपने अन्तःपुर में लाने का निश्चय किया। अपनी विशाल सेना सहित अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ की ओर प्रयाण किया। जब राजपूतों को, अलाउद्दीन के इस कुत्सित विचार का पता लगा तो वे अपनी मर्यादा की रक्षा में सन्नद्ध हो गये। दोनों सेनाओं का सामना हुआ। एक ओर देश-भक्ति के मतवाले राजपूत थे, दूसरी ओर वासना से अंधा अलाउद्दीन। भयंकर युद्ध हुआ। परन्तु अलाउद्दीन को अपनी आशा-लता फलवती होती न प्रतीत हुई। तत्पश्चात् उसने कपट का आश्रय लिया। राजा भीमसिंह को उसने कहला भेजा कि मैंने रानी पद्मिनी के अलौकिक रूप लावण्य की अत्यधिक प्रशंसा सुनी है, यदि एक वार मुझे दर्पण में से उसका प्रतिविम्ब दिखा दिया जाय तो मैं सेना सहित लौट जाऊँगा। राजा भीमसिंह ने नरहत्या को वृथा समझ यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया।

अलाउद्दीन को यह वात भली भाँति ज्ञात थी कि सहज-शूर राजपूत विश्वासघाती नहीं होते, वे अपने वचन न पालन के लिए प्राण तक दे देते हैं। इसी विश्वास के वल पर उसने कुछ सिपाहियों सहित दुर्ग में प्रवेश करने का साहस किया। जिस अलाउद्दीन ने पवित्र सीसौदिया कुल को कलंकित करना चाहा था, जिसके घृणित प्रस्ताव को श्रवण कर राजपूतों का रक्त उबल उठा था, उसी अलाउद्दीन ने जब अतिथिरूप से राजप्रासाद में प्रवेश किया, तब उसका सब भाँति सत्कार किया गया। अंत में दर्पण में से उसे रानी पद्मिनी का प्रतिविम्ब प्रदर्शित किया गया। उस अद्वितीय सुन्दरी देव-प्रतिमा के प्रतिविम्ब ने बादशाह की पापमयी वासना को पुनर्जागरित कर दिया। परन्तु उस समय वह शान्त रहा।

अतिथि के सम्मान के लिए राजा उसे दुर्ग के बाहरी द्वार तक पहुँचाने आये। द्वार के बाहर पैर रखते ही सुलतान ने संकेत किया और उसके सिपाहियों ने भीमसिंह को बंदी बना लिया और वे उसे बंदी रूप में ही अपने शिविर में ले गये। धर्मपरायणता और अतिथि-सत्कार का यह विचित्र पुरस्कार था। अब सुलतान ने राजपूतों को कहला भेजा कि जब तक पद्मिनी मुझे न सौंपी जायगी, तब तक भीमसिंह का छुटकारा कठिन है।

इस विकट अवस्था में पद्मिनी ने अपने चचेरे भाई बादल के पास रक्षाबंधन भेजा। रक्षाबन्धन पाते ही वीर कुमार बादल अपने पिता गोरा को साथ ले चित्तौड़ पहुँचा। उसने चित्तौड़ की त्रस्त प्रजा को शान्त किया और प्रण किया कि प्राण गँवाकर भी भीमसिंह को कारागार से छुड़ाऊँगा। गोरा और उसके पुत्र बादल ने लोहे को लोहे से काटने का निश्चय किया। यह घोषित कर दिया गया कि रानी पद्मिनी अपने पति की रक्षा के लिए स्वयं बादशाह के पास जायँगी। यह सुन सब सामंत अत्यन्त क्रुद्ध हुए। वे यह स्वीकार न कर सकते थे कि हिन्दू-रमणी अपने सतीत्व को तिलांजलि दे। परन्तु पद्मिनी के निश्चय के विरुद्ध किसी को बोलने का साहस न हुआ।

बादशाह को इसकी सूचना दी गई। सात सौ पालकियाँ बादशाह के शिविर की ओर रवाना हुईं। पालकियों में पद्मिनी की सखियों के स्थान पर सशस्त्र सैनिक आसीन थे। कहारों का भेष धारण किये छः छः वीर राजपूत प्रत्येक पालकी को उठा रहे थे। वासना से अंधे सुलतान ने पद्मिनी की प्रार्थना पर उसके पति से अंतिम साक्षात्कार के लिए आधा घंटा समय दे दिया। इतने में कहारों के भेष में रहे हुए कई राजपूत भीमसिंह को एक

पालकी में बिठला कर वहाँ से चल पड़े। शेष राजपूत अपने अस्त्र-शस्त्र सँभाल कर पालकियों में तैयार हो बैठे।

समय अधिक बीत जाने पर कामांध सुलतान अधीर होकर खीमे के भीतर चला गया, और उसने पालकी का परदा उठा दिया। तत्क्षण पद्मिनी के बदले पालकियों में से वीर राजपूत निकल आये और उन्होंने सुलतान के साथियों को गाजर-मूली की तरह काटना शुरु किया। अलाउद्दीन भी वहीं यमलोक को सिधार जाता पर उसका भाग्य अच्छा था, वह बच गया। अब राजपूतों और मुसल्मानों में फिर घमासान युद्ध प्रारंभ हुआ। अंत में सेना की भयानक दुर्दशा देख उसे दिल्ली को लौटना पड़ा।

यद्यपि इस युद्ध में विजय-श्री राजपूतों के हाथ रही, परन्तु वीरवर गोरा तथा उसके पाँच हज़ार साथियों की मृत्यु इस युद्ध में हो गई। राजपूत इस क्षति को पूरा न कर सके।

अलाउद्दीन के हृदय में यह पराजय निरंतर शूल की तरह चुभती रही। अंत में सन् १२९० में उसने अपार सेना लेकर फिर चित्तौड़ पर आक्रमण किया। इस बार राजपूतों ने अपनी विजय की आशा छोड़ दी। परन्तु पराधीनता उन्हें स्वीकृत न थी। युद्ध में मृत्यु को वे श्रेयस्कर समझते थे। अतएव बलिवेदी के पथिक और स्वतंत्रता के उपासक राजपूत सामन्त आकर एकत्र होने लगे। फिर नर-हत्याकारी संग्राम प्रारंभ हुआ। सर्वथा निराश होने पर राजपूतों ने समरांगण में मर कर अमर होने का निश्चय कर लिया। विजयी विधर्मी कहीं कुल-कामनियों को अपमानित न करे इस डर से वीरांगनाओं ने जौहर व्रत की—जीते-जागते अग्नि-कुंड में प्रवेश करने की—ठानी। तदनुसार महारानी पद्मिनी के प्रासाद के पार्श्व की एक अंधकारमय सुरंग में अग्निकुंड

प्रदीप्त किये गये। तत्पश्चात् पद्मिनी और अपने पतियों के चरणों का ध्यान करती हुई, मुक्तकेशा अनेक बालाएँ हर्ष सहित उस प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ीं। जिस सौंदर्य को देखकर विषयी अलाउद्दीन के हृदय में पाप-वासना प्रदीप्त हो उठी थी, वही देव-दुर्लभ सौन्दर्य अपने कुल-गौरव की रक्षा के लिए क्षणभर में स्वाहा हो गया।

अपनी बहनों, माताओं तथा स्त्रियों से निश्चिन्त हो राजपूत केसरिया बाना पहन दुर्ग का द्वार खोल भूखे सिंह के समान सुलतान की सेना पर झपट पड़े और भयंकर युद्ध करते हुए वीर-गति को प्राप्त हुए। वासनांध अलाउद्दीन ने निर्जन, बाधा-रहित दुर्ग में प्रवेश किया, परन्तु जिस रूपवती पद्मिनी के लिए उसने इतना कष्ट उठाया था। उसकी प्रज्वलित चिता का ही वह दर्शन कर सका।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' नामक ग्रंथ में पद्मिनी विषयक उपरिलिखित सब कथाओं को अविश्वास-योग्य सिद्ध किया है। उनका कथन है कि कर्नल टाड ने यह कथा मेवाड़ के भाटों के आधार पर लिखी है, और भाटों ने उसे पद्मावत से लिया है, जो कि इतिहास-ग्रन्थ नहीं अपितु कवितावद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातों पर रचा गया है कि रतनसेन (रतनसिंह) चित्तौड़ का राजा था, पद्मिनी या पद्मावती उसकी रानी थी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुलतान था जिसने रतनसेन से युद्ध करके चित्तौड़ दुर्ग विजय किया था। बहुधा अन्य सब बातें कथा को रोचक बनाने के लिए कल्पना मात्र की गई हैं। क्योंकि रतनसिंह एक वर्ष भी राज्य करने नहीं पाया, ऐसी दशा में योगी बनकर उसका सिंहलद्वीप तक जाना और वहाँ की राजकुमारी

को व्याह लाना कैसे संभव हो सकता है। उसके समय सिंहलद्वीप का राजा गंधर्वसेन नहीं किन्तु राजा कीर्त्ति निश्शंकदेव पराक्रम वाहु (चौथा) या भुवनेकबाहु (तीसरा) होना चाहिये। सिंहलद्वीप में गंधर्वसेन नाम का कोई राजा हुआ ही नहीं। अलाउद्दीन ८ वर्ष तक चित्तौड़ गढ़ के लिए लड़ने के वाद निराश होकर दिल्ली को नहीं लौटा किन्तु प्रायः ६ महीने लड़कर ही उसने चित्तौड़ पर विजय प्राप्त कर ली थी। वह एक ही वार चित्तौड़ पर चढ़ा इसलिए दूसरी वार आने की कथा कल्पित है।

भाटों की पुस्तकों में समरसिंह के उपरान्त रतनसिंह का नाम न होने से टॉड ने पद्मिनी का संवन्ध भीमसिंह से मिलाया और उसे लक्ष्मणसिंह के समय की घटना मान ली। ऐसे ही भाटों के कथनानुसार टॉड ने लक्ष्मणसिंह को वालक और मेवाड़ का राजा होना भी लिख दिया है। पद्मावत की कथा और टॉड की कथा में यही प्रमुख भेद है। परन्तु लक्ष्मणसिंह न तो मेवाड़ का कभी राजा हुआ और न बालक था किन्तु सीसोदे का सामन्त था। और उस समय वृद्धावस्था को पहुँच चुका था। स्वामी का नमक अदा करने के लिए उसने रतनसिंह की सेना का सेनापतित्व स्वीकृत किया था, और अलाउद्दीन के साथ युद्ध में लड़ते हुए उसने अपने सात पुत्रों सहित वीर-गति पाई थी। इसी प्रकार भीमसिंह लक्ष्मणसिंह का चाचा नहीं अपितु दादा था। जैसे कि राणा कुम्भकर्ण के समय के 'एकलिंग-माहात्म्य' से पाया जाता है। ऐसी अवस्था में टॉड का कथन भी विश्वास-योग्य नहीं। पद्मावत, तारीख़ फिरिश्ता और टॉड के लेखों की यदि कोई जड़ है तो केवल यही कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर छः मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया। वहाँ का राजा रतनसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मणसिंह आदि

कई सामन्तों सहित मारा गया। उसकी रानी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी।

हम सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के कथन को अप्रमाणित नहीं कह सकते और न प्रचलित कथा को ही अविश्वास-योग्य ठहरा सकते हैं। हमें तो केवल इतना ही प्रदर्शित करना है कि अनिंद्य-सुन्दरी पद्मिनी वास्तव में सच्ची राजपूतनी थी, जिसने विधर्मी शत्रुओं से अपमानित होने के स्थान पर सहर्ष अग्नि-प्रवेश स्वीकार कर अपने देव-दुर्लभ सौंदर्य को स्वाहा कर भावी भारतीय स्त्रियों के लिए एक अनुपम आदर्श स्थापित कर दिया और इस बात में सब सहमत हैं। वीर कवि श्री वियोगी हरि के वचनों में हम यही कह सकते हैं—

भई भस्म जहँ पद्मिनी आरज-धर्म समोय,
यज्ञ अग्निहूँ तें अधिक, पावनु पावकु सोय।
क्यों न धारियै सीस पै वह जौहर की राख,
भव-तनु-भूषन भसम तें जो पुनीत गुन लाख।

पन्ना

स्वनाम-धन्य हिन्दूपति महाराणा साँगा के परलोक-वास के साथ ही चित्तौड़ पर आपत्तियों के बादल मँडराने लगे। उस समय ऐसा कोई शक्तिशाली पुरुष न था जो चित्तौड़ की बागडोर अपने हाथ में लेकर रजपूती गौरव को बढ़ाने में समर्थ होता। राणा का ज्येष्ठ पुत्र रत्नसिंह गृहकलह में मारा गया। वह निस्संतान था, अतः उसका छोटा भाई विक्रमादित्य चित्तौड़ के सिंहासन का अधिकारी हुआ। परन्तु वह बड़ा दुष्ट-प्रकृति था। राजपूत सामंत उससे असंतुष्ट थे। इतने में गुजरात के सुलतान बहादुर शाह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। अन्य उपाय न देख राजमाता कर्मवती ने मालवा आदि के जिले देकर उससे संधि कर ली। बहादुर शाह की उक्त चढ़ाई से भी महाराणा का चालचलन कुछ न सुधरा और सरदारों के साथ उसका बर्ताव पहले का-सा ही बना रहा। जिससे बहुत से सरदार उसका साथ छोड़ गए। कुछ समय बाद बहादुरशाह ने फिर दुबारा चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। वीरांगना राजमाता कर्मवती ने सरदारों को प्रोत्साहन दिया। उसकी प्रेरणा से सरदार द्वेष-भाव भूलकर देश के लिए बलिदान होने को जुट गये। राजवंश की रक्षा के लिए राणा विक्रमादित्य और वीरवर साँगा के दूसरे पुत्र उदयसिंह को बूँदी भेज दिया गया और युद्ध-काल के लिए देवलिए के रावत बाघसिंह को महाराणा का प्रतिनिधि बनाया गया। लोमहर्षण युद्ध हुआ। अनेकों वीर सरदारों ने केसरिया बाणा पहन युद्धभूमि में शत्रुओं का संहार कर वीर-गति

पाई। वहुत सी स्त्रियों ने हाड़ी रानी कर्मवती के साथ जौहर कर सतीत्व-रक्षार्थ प्राणाहुति दे दी। युद्ध में वहादुरशाह की विजय हुई। यह युद्ध 'चित्तौड़ का दूसरा साका' के नाम से प्रसिद्ध है।

टॉड-राजस्थान में लिखा है कि कर्मवती ने दिल्ली के वादशाह हुमायूँ के पास राखी भेजी थी, और वह रक्षावंधन के पवित्र ऋण को चुकाने के लिए चित्तौड़ आया। पर उस समय वह शेरशाह के साथ युद्ध में व्यस्त था, अतएव उसे पहुँचने में देर हुई। उसके आने के पहले ही चित्तौड़ का विध्वंस हो चुका था और रक्षावंधन भेजने वाली उसकी वहन सती होकर स्वर्ग सिधार चुकी थी। तव उसने वहादुरशाह को वहाँ से भगाकर फिर विक्रमादित्य को राजा वनाया।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायवहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा इस घटना को कुछ अन्य रूप में वर्णन करते हैं। उनका कथन है कि वहादुरशाह की पहली चढ़ाई के समय कर्मवती ने हुमायूँ से सहायता मिलने की आशा पर अपना वकील उसके पास भेजा था परन्तु उसने सहायता न दी। पीछे हुमायूँ भी वहादुरशाह से लड़ने के लिए चित्तौड़ की तरफ वढ़ा और ग्वालियर आ पहुँचा, जिसकी सूचना पाते ही वहादुरशाह ने उसको लिखा कि मैं इस समय धर्मयुद्ध (जहाद) कर रहा हूँ। अगर तुम इस समय हिन्दुओं को सहायता दोगे, तो खुदा के सामने क्या जवाव दोगे। यह पत्र पढ़कर हुमायूँ ग्वालियर में ही ठहर गया, और युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा करता रहा। युद्ध की समाप्ति पर वहादुरशाह के एक असंतुष्ट सरदार द्वारा निमंत्रण पाकर हुमायूँ चित्तौड़ की ओर वढ़ा। वहादुरशाह कुछ साथियों सहित वहाँ से भाग गया, हुमायूँ ने उसका पीछा किया। तदुपरान्त वहादुरशाह समुद्र में मारा

गया। इधर सुअवसर देखकर मेवाड़ के सरदारों ने चित्तौड़-गढ़ पर बिना रक्तपात के ही अधिकार कर लिया। फिर वे सरदार राणा विक्रमादित्य और उदयसिंह को बूँदी से ले आये।

टॉड-साहब या ओझा जी इनमें से किसी का भी कथन स्वीकृत किया जा सकता है, दोनों का परिणाम एक ही है कि चित्तौड़ पर उसके राजवंश का पुनः अधिकार हो गया।

चित्तौड़ का जो राजवंश सदा से अपनी शुभ्रकीर्त्ति-पताका फहराता रहा है जिस राजवंश की रक्षा सामन्त अपना बलिदान देकर भी करते रहे हैं जिस पवित्र राजवंश में आगे चलकर हिन्दू-पति महाराणा प्रताप का अभ्युदय होने वाला था, उसी राजवंश का अंत तुच्छ प्रलोभन के कारण एक ऐसे व्यक्ति द्वारा होने लगा था जिसकी नसों में उसी राजवंश का रक्त प्रवाहित हुआ था। परन्तु उसी समय पर एक ऐसी घटना हुई जो अनंतकाल के लिए भारतीय इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों से अंकित हो गई है। राजमहल की एक दासी ने देश के कल्याण के लिए—अपने स्वामी के पुत्र की रक्षा के लिए अपने बच्चे का—अपने हृदय के टुकड़े का रक्त देकर उस पवित्र राजवंश की रक्षा की। ऐसे अनूठे त्याग के कारण ही तो चित्तौड़ भारत का मुकुट कहा जाता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि विक्रमादित्य पुनः चित्तौड़ का राणा हुआ। पर इतनी आपत्तियों के अनंतर भी विक्रमादित्य अपनी बाल्यावस्था एवं बुरी संगति के कारण अपना चाल-चलन न सुधार सका। उसका व्यवहार पूर्ववत् ही बना रहा। जिससे कुछ थोड़े स्वार्थी लोग ही उसके पास रहे, शेष स्वाभिमानी राजपूत सामन्त अपने अपने स्थानों में चले गये। ऐसी दशा में राणा साँगा के भाई कुँवर पृथ्वीराज का अनौरस पुत्र (दासीपुत्र)

बनवीर चित्तौड़ में आया, और महाराणा के प्रीति-पात्रों से मिल कर उसका मुसाहिब बन गया। टॉड के कथन से प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों में सामंतों ने विक्रमादित्य को शासन से अलग कर दिया। विक्रमादित्य का छोटा भाई उदयसिंह उस समय केवल ६ वर्ष का था। इसलिए वह राजसिंहासन पर न बैठाया गया। उसके बड़े होने तक शासन का भार बनवीर को सौंपा गया। बनवीर की संरक्षकता में उदयसिंह पलने लगा।

उदयसिंह राजकुमार होता हुआ भी अनाथ था। उसके पिता वीर साँगा पर्याप्त दिन पहले स्वर्ग सिधार चुके थे। माता कर्मवती भी सती हो चुकी थी। उनके अवसान के अनंतर पन्ना नामक धाय ही उदयसिंह का पालन-पोषण करती थी। बालक उदयसिंह भी उसे स्नेह से 'माँ' कहकर पुकारता था। पन्ना का एक लड़का था। उसका नाम था चंदन। चंदन और उदयसिंह प्रायः एक ही अवस्था के थे। दोनों एक साथ खेलते, खाते और सोते थे।

चित्तौड़ का शासनसूत्र अपने हाथ में लेने के अनंतर बनवीर यह सोचने लगा कि किस प्रकार मैं आजन्म निष्कंटक इस गद्दी को पा सकता हूँ, किस प्रकार मेरे ही वंशधर इस राज्य के अधिकारी हो सकते हैं। यह चिंता उसे अहर्निश सताने लगी। इसे यह भली भाँति ज्ञात था कि जब तक राणा विक्रमादित्य और राजकुमार उदयसिंह जीवित हैं, तब तक यह संभव नहीं। अतः बनवीर राज्यलोभ से पतन के पथ की ओर अग्रसर हुआ। उसने विक्रमादित्य और उदयसिंह का अंत कर देना निश्चित कर लिया।

अपने इसी संकल्प के अनुसार एक दिन आधी रात को उसने विक्रमादित्य की हत्या कर डाली। बनवीर का यह कार्य एक बारी ने देख लिया, जो राजकुमार की जूठन उठाया करता था। एक क्षण

में उस स्वाभिभक्त के मन में यह विचार आया कि यह नृशंस उदय-सिंह का भी अवश्य अंत करेगा। वह तत्क्षण पन्ना के पास चला। पन्ना उस समय राजकुमार उदयसिंह और चंदन को लेकर सोई हुई थी और महलों में कोलाहल होने से उसकी निद्रा भंग हो गई थी। इतने में बारी वहाँ पहुँचा और बोला—पन्ना! बनवीर ने राणा विक्रमादित्य की हत्या कर दी है और वह कदाचित् उदय का भी आज ही रात को अंत कर देगा। अब उसकी रक्षा तुम्हारे ही हाथ में है।

यह सुन पन्ना काँप उठी, पर क्षण भर में ही एक विचार ने उसके मुख-कमल को खिला दिया। उसने बारी से कहा—देख इस मिठाई के टोकरे में उदय को छिपाकर क़िले से इसी समय बाहर चला जा। नदी के किनारे पर मेरी प्रतीक्षा करना। मैं थोड़ी देर बाद तुझसे वहीं आकर मिलूँगी। बारी ने कुछ प्रश्न करना चाहा। परन्तु पन्ना ने उसे बिना कुछ बोले शीघ्रता से वहाँ से निकल जाने को कहा।

बारी ने वैसा ही किया जैसा पन्ना ने कहा था, और चुपचाप वहाँ से चला गया। उसके अनंतर पन्ना ने राजवंश की रक्षा के लिए—अपने स्वामी के पुत्र की रक्षा के लिए—अपने पुत्र चंदन को राजकुमार के स्थान में सुला दिया जिससे बनवीर को किसी प्रकार का संदेह न हो। इतने में रुधिर से रँगी नंगी तलवार लिए वधिक बनवीर ने वहाँ प्रवेश किया और पन्ना से पूछा—उदयसिंह कहाँ है? अपने हृदय पर पत्थर रखकर पन्ना ने अपने चंदन की ओर संकेत कर दिया, और उधर से मुख मोड़ लिया।

निर्दयी बनवीर ने उस पर ज़ोर से तलवार का प्रहार किया, बालक के मुँह से एक चीख निकली और वह समाप्त हो गया।

पन्ना के सामने ही उसके पुत्र की हत्या हो गई, पर वह उसके लिए अश्रुपात तक न कर सकी। एक शासक था, एक दासी! एक राज्य के लोभ से अपने भाई की हत्या कर रहा था, और एक ने अपने प्रभु के पुत्र की रक्षा के लिए अपना पुत्र बलिदान कर दिया! कितना अन्तर !!

बनवीर के चले जाने के अनंतर उस नीरव निस्तब्ध रात्रि में अपने प्यारे बेटे के शव को लेकर पन्ना नदी की ओर बढ़ी और उसका अन्तिम संस्कार कर राजकुमार की चिंता करने लगी।

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा का कथन कुछ भिन्न है। उन्होंने न तो सामन्तों द्वारा विक्रमादित्य के पदच्युत होने की घटना का वर्णन किया है, और न वे उदयसिंह को छः वर्ष का होना स्वीकार करते हैं, फलतः बारी जाति के नौकर द्वारा उदयसिंह को मिठाई के टोकरे में ले जाये जाने की कथा को भी वे स्वीकृत नहीं करते। उनका कथन है कि उदयसिंह उस समय १५ वर्ष का था और उस घटना का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—एक दिन रात के समय बनवीर ने विक्रमादित्य को तलवार से मार डाला और निष्कंटक राज्य करने की इच्छा से उसने उदयसिंह का भी वध करना चाहा। महलों में कोलाहल होने पर उसकी स्वामिभक्त धाय पन्ना को महाराणा के मारे जाने का समाचार मिला। तब उसने उदयसिंह के स्थान पर उसी अवस्था के अपने पुत्र को सुला दिया। बनवीर ने उस स्थान पर जाकर पन्ना से पूछा—उदयसिंह कहाँ है। उसने पलंग की ओर इशारा किया। जिस पर उसने तलवार से उसका काम तमाम कर दिया। अपने पुत्र के मारे जाने पर उदयसिंह को लेकर पन्ना महलों से बाहर निकल गई।

टॉड साहब के कथनानुसार उदयसिंह छः वर्ष का हो या

ओझा जी के मतानुसार पंद्रह वर्ष का, हमें इस विवाद से तात्पर्य नहीं। हमें तो यहाँ केवल उस आदर्श स्वामिभक्ता धाय के अनुपम त्याग का ही वर्णन करना है।

पुत्रहीना पन्ना अपने स्वामी के पुत्र को लेकर अब इधर-उधर भटकने लगी, वह पहले उदयसिंह को लेकर चित्तौड़ दुर्ग की रक्षा में अपना बलिदान देने वाले स्वर्गीय वीर बाघसिंह के पुत्र देवलिये के रावत रायसिंह के पास पहुँची। उन्होंने उदयसिंह का बहुत कुछ सत्कार किया परन्तु बनवीर के भय से राजकुमार की रक्षा का भार अपने ऊपर न लिया तथा सवारी और रक्षा का प्रबंध कर उसे डूंगरपुर भेज दिया। वहाँ के रावल आसकरण ने भी बनवीर के डर से उसे आश्रय न दिया, और घोड़ा तथा मार्ग-व्यय देकर विदा किया। दो स्थानों से निराश होने के पश्चात् पन्ना कई दिन तक पहाड़ों के बीच में ईदर के आसपास के गावों में भीलों के साथ घूमती रही। तदनन्तर कुंभलनेर पहुँची और उसने वहाँ के क़िलेदार आशा देपुरा (महाजन) से प्रार्थना की कि अपने भावी नरेश के प्राण बचाइये। सारा वृत्तान्त सुनकर वह असमंजस में पड़ गया। यह सब वृत्तान्त उसकी माँ ने सुना तो उसने अपने पुत्र से कहा—"महाराणा सांगा ने उपकार कर तुम्हें उच्च पद पर पहुँचाया है, क्या तुम उसके निराश्रित पुत्र की सहायता कर अपने उपकार का बदला न दोगे! तुम्हारे लिए तो यह स्वर्ण अवसर है। तुम उपकार करने वाले से भी उऋण होगे, और भावी राजा को भी उपकृत करोगे।" माता के ये वचन सुनकर उसने राजकुमार को अपने पास रख लिया। अब पन्ना ने शांति की साँस ली।

उदयसिंह के वध के अनंतर बनवीर निश्चित हो गया। उसके मार्ग से दोनों काँटे दूर हो गये। चित्तौड़ के सब सरदारों ने भी

यही समझा। वास्तविक रहस्य को तो पन्ना ही जानती थी। जिसने अपने दुःख को अपने हृदय-सागर में दवाया हुआ था। वनवीर निश्चिंत हो अब अत्याचार करने लगा।

कुछ सरदार उसके अकुलीन होने के कारण उससे घृणा करते थे। वनवीर ने तलवार के बल से उनको वश में करना चाहा। परन्तु थोड़े ही दिनों में उनको उदयसिंह के जीवित रहने का समाचार मिल गया। शीघ्र ही अग्नि की भाँति यह समाचार चारों ओर फैल गया। अव वनवीर ने यह प्रसिद्ध किया कि लोग जिसको उदयसिंह कहते हैं, वह तो कृत्रिम है। परन्तु जब कई सरदारों और उसके ननिहाल वालों ने उसे भली-भाँति पहचान लिया तब वनवीर के कथन पर किसी ने विश्वास न किया। अब सरदार जाकर उदयसिंह से मिलने लगे।

उदयसिंह ने सेना सहित वनवीर पर आक्रमण किया। वनवीर पराजित हुआ, और उदयसिंह अपने पैतृक राज्य का स्वामी वना। उदयसिंह के राज्याभिषेक के समय पन्ना जीवित थी। उसने अपनी आँखों से उदय का राज्याभिषेक देख अपने को धन्य माना। महाराणा उदयसिंह भी माता के समान उसके चरणों की पवित्र धूलि लेते थे। पन्ना तुम धन्य हो। तुम-सरीखी स्वामिभक्ता इतिहास के पन्नों में वहुत कम मिलेंगी। फिर क्यों तुम्हारी पूजा न हो—

निज प्रिय लाल कटाय जो, प्रभु-सिसु लियो वचाय।
क्यों न होय मेवाड़ में, पूजित पन्ना धाय॥

दुर्गावती

१

भारतवर्ष के वर्त्तमान मानचित्र में जो प्रदेश मध्यप्रान्त के नाम से अंकित है उसका उत्तरी भाग पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में 'गोंडवाना' के नाम से प्रसिद्ध था। उस प्रान्त के अधिकतर निवासी गोंड लोग थे, और वे ही इस सुविशाल राज्य पर शासन करते थे अतएव उस प्रान्त का नाम गोंडवाना पड़ा था। वर्त्तमान जबलपुर से कुछ मील की दूरी पर गढ़-मंडला नामक शहर वहाँ के तत्कालीन शासकों की राजधानी थी। वर्त्तमान समय पर यहाँ प्राचीन वैभवशाली एवम् शक्ति-संपन्न राज्य के राजप्रासादों के जीर्ण-शीर्ण अवशेष दिखाई देते हैं। प्रायः ८०० वर्ष पूर्व मदनशाह नामक गोंड राजा ने यहाँ जो महल बनवाया था वह आज भी मदन-महल के नाम से प्रसिद्ध है और कुछ अच्छे रूप में दिखाई देता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में यहाँ परम पराक्रमी संग्रामसिंह नामक राजा हुआ। उसके शासनकाल में यह राज्य उन्नति और वृद्धि की चरम सीमा को पहुँच गया। पर्वत-श्रेणियों से घिरे होने के कारण यह प्रदेश अत्यधिक सुरक्षित भी था, अतएव चारों ओर मुसलमानों का राज्य होने पर भी यह प्रान्त अपनी विजय-पताका निश्शंक भाव से फहरा रहा था। उसी संग्रामसिंह का पोता दलपतशाह था। दलपतशाह बड़ा वीर और स्वाभिमानी पुरुष था। उसकी धाक चारों ओर बैठी हुई थी।

अन्य गोंड राजा भी उसका बड़ा मान करते थे। कोमलांगी पर साक्षात् दुर्गा के समान रुद्ररूपा राजपूत-रमणी दुर्गावती उसी वीर दलपतशाह की सहधर्मिणी थी।

२

वीरांगना दुर्गावती महोबानरेश चंदेलवंशी राजपूत शालिवाहन की कन्या थी। वह अत्यधिक रूपवती और सर्वगुणसम्पन्ना थी। उसके अनुपम लावण्य की कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। जब उसने शैशव जीवन को समाप्त कर यौवनावस्था में पदार्पण किया, तब आसपास के कई शासक उसके पाने के लिए लालायित हो उठे। कितने ही शक्ति संपन्न शासक उसके पाणिग्रहण के लिए उत्सुक थे। परन्तु दुर्गावती गढ़मंडला-नरेश वीर दलपतशाह की वीरता पर मुग्ध थी। अन्य किसी को अपने जीवन का कर्णधार बनाना उसे स्वीकृत न था। दलपतशाह ने जब यह समाचार सुना, और दुर्गावती के अद्वितीय सौंदर्य की गाथा सुनी तो उसके मन में सहज-स्वाभाविक प्रेम-प्रवाह बहने लगा और उसने महोबानरेश से उस कन्यारत्न की याचना की। परन्तु कुलीनताभिमानी महोबानरेश को यह प्रस्ताव स्वीकृत न था क्योंकि दलपतशाह वीर होता हुआ भी, सुंदर होता हुआ भी, सर्वगुण-संपन्न होता हुआ भी असभ्य गोंड जाति का था। राक्षसराज दशग्रीव रावण के पुरखा पुलस्त्य का विवाह वैशाली के सूर्यवंशी राजा तृणबिंदु की कन्या इलविला से होना चाहे इतिहास प्रमाणित कर दे, महाभारत काल में चाहे पांडव भीम और हिडिंबा राक्षसी के विवाह का आख्यान मिल जाय, परन्तु मध्यकालीन क्षत्रिय राजपूत राजा अपनी कन्या का विवाह असभ्य गोंड से किस प्रकार कर सकता था ?

महोबानरेश शालिवाहन की अभिलाषा थी कि दुर्गावती का विवाह राजपूताना के किसी उच्च-कुल के राजपूत के साथ हो। अतएव उसने दलपतशाह को इस आशय का स्पष्ट उत्तर भी दे दिया, तथा उसने अनेक क्षत्रिय राजाओं के पास दूत भी भेजे।

महोबानरेश का उत्तर सुनकर वीर दलपतशाह अपमान से जल-भुन उठा। उसने राज-प्रथा के अनुसार अपने बाहुबल से उस कन्या-रत्न को अपनाने का निश्चय किया, और एक बड़ी सेना के साथ महोबा पर आक्रमण कर दिया। यह सुन कर महोबानरेश भी युद्ध के लिए तैयार हुआ। उभयपक्षीय सेनाओं के सामने होते ही घोर-संग्राम प्रारंभ हुआ। एक छोटी सी बात के लिए रक्त की नदियाँ बह निकलीं। सैकड़ों वीर धराशायी हुए। अंत में महोबा-नरेश परास्त हुआ और उसकी सेना भाग उठी। विजय-लक्ष्मी दलपतशाह के हाथ रही, और उसके साथ ही लक्ष्मीरूपा दुर्गावती भी दलपतशाह की अंकशायिनी हुई। गढ़मंडला में पहुँचकर दुर्गावती और दलपतशाह का विधिपूर्वक विवाह हुआ। दोनों ही एक-से वीर थे, और दोनों की ही अभिलाषा पूर्ण हुई। अब वे दोनों आनंद-पूर्वक रहने लगे।

३

विवाह के पश्चात् दलपतशाह ने सबसे पहले अपनी राजधानी मंडला से हटा कर दमोह ज़िले के सिंगौरगढ़ नामक स्थान में स्थापित की। यह दुर्ग मंडला के दुर्ग से कहीं अधिक सुदृढ़ एवम् विशालकाय था और राज्य की सीमा के ठीक मध्य में पड़ता था, इससे शासन में सुविधा होने लगी।

कुछ काल के अनन्तर दुर्गावती गर्भवती हुई और यथा-समय

उसके वीरनारायण नामक सुन्दर पुत्र हुआ। दलपतशाह और दुर्गावती के हर्ष का ठिकाना न रहा। दुर्गावती अपने को बड़ी भाग्यशाली समझने लगी। वीर और चतुर पति मिला, सुविशाल राज्य की रानी हुई और इससे भी अधिक उसे पुत्र-रत्न की खुशी थी। बालक वीरनारायण का बड़े लाड-प्यार से लालन-पालन होने लगा। परन्तु कुटिल विधाता उस दम्पती के इस सुख को न देख सकता था। राजा दलपतशाह बीमार हो गये। धीरे-धीरे बीमारी बढ़ती गई और अंत में घातक सिद्ध हुई। इस तरह सुख से रहते उन्हें अभी चार पाँच वर्ष ही बीते थे कि दलपतशाह अकाल ही काल-कवलित हो गया। गढ़मंडला का राजसिंहासन सूना हो गया। दुर्गावती का सौभाग्य-सिंदूर सदा के लिए मिट गया।

४

स्त्री के लिए पति की मृत्यु से बढ़ कर कोई दुःख नहीं होता, विशेषकर पूर्ण यौवनावस्था में। वह महाराज के साथ सती होना चाहती थी परन्तु पुत्र-रत्न शिशु वीरनारायण के पालन का प्रश्न था। राज्य का वह अधिकारी जब तक शासन के योग्य न हो जाय तब तक राज्य की क्या व्यवस्था हो, इस प्रश्न ने उसे अन्य राजपूत-रमणियों के समान सती न होने दिया। अतएव वज्रपात के तुल्य वैधव्य के दुख को उसने असीम धैर्य के साथ सहन किया। बालक के लालन-पालन में संलग्न रहकर उसने अपने दारुण शोक को ही भुला दिया। दलपतशाह के स्वर्ग-वास के अनंतर कुमार वीरनारायण अपने पिता का उत्तराधिकारी था। अतः राज्य के कर्मचारियों ने उसका यथाविधि राज्याभिषेक कर दिया। परन्तु उसके वयस्क होने तक स्वयं महारानी दुर्गावती राज्य का सारा काम-काज देखती थीं।

प्रौढ़ राजा के अभाव में राज्य में अराजकता फैलने की संभावना थी, परन्तु गोंडवाना में उसका नाम भी न दिखाई दिया। अल्पवयस्का तरुण दुर्गावती ने कठिन राज्य-भार को सुचारु रूप से सँभाल कर अपनी अद्वितीय कुशाग्र-बुद्धि, शासन-कार्य-कुशलता और साहस का परिचय दिया। स्वर्गीय महाराज दलपतशाह के राज्य-कर्मचारी अत्यंत सुदक्ष बुद्धिमान एवं कर्तव्य-परायण थे। उनमें अमात्य बाबू आधारसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बाबू आधारसिंह जाति के कायस्थ थे। वे धुरंधर राजनीतिज्ञ, विश्वस्त तथा दृढ़ स्वामिभक्त थे। दलपतशाह के परलोक-प्रयाण के पश्चात् भी आधारसिंह मंत्री-पद पर रहे। महारानी दुर्गावती उनकी मंत्रणा के बिना कोई कार्य न करती थी।

महारानी दुर्गावती प्रजा के सुख-दुख का बड़ा विचार रखती थी। प्रजा की समृद्धि और शान्ति में ही वह राज्य की समृद्धि समझती थी। विदेशी ऐतिहासिक विन्सेंट स्मिथ ने अपनी ऑक्सफोर्ड हिस्टरी ऑफ इंडिया नामक पुस्तक में लिखा है कि उसके शासन में कोई त्रुटि नहीं कही जा सकती थी। *

प्रजा के कल्याणार्थ उसने स्थान-स्थान पर तालाब कुएँ और धर्मशालाएँ बनवाई थीं। अनाथों को आश्रय देने के लिए अनेक उपाय किये थे। शिल्प और वाणिज्य की ओर भी उसने पर्याप्त ध्यान दिया था। सारांश यह कि अपनी प्रजा को सुखी करने के लिए उसने कोई उपाय शेष न छोड़ा।

* Gondwana, equivalent to the northern portion of the present Central Provinces, then governed by the Dowager Rání Durgávatí an execllent princess, with whose administration no fault could be found,

राज्य को शत्रुओं से रक्षित रखने के अभिप्राय से वह साथ-साथ अपनी सेना को भी सुधारती जाती थी। उसको विदित था कि किसी न किसी दिन मुसलमान अधिकारियों की मार्जार-दृष्टि उसके समृद्ध राज्य पर अवश्य पड़ेगी। इसलिए वह समराङ्गण में सेना सहित उतरने की तैयारी बराबर करती जाती थी। अस्त्र-शस्त्र चलाने में वह बड़ी निपुण थी, और थी गज़ब की निशानेबाज़। स्वयं हाथी पर चढ़कर सेना का संचालन किया करती थी।

महारानी ने अपने पति के राज्य का ही सुचारु रूप से संचालन न किया, अपितु वह समय-समय पर राज्य-विस्तार की ओर भी पूरा ध्यान देती थी। तत्कालीन मालवाधिपति बाज़ बहादुर के देश को जीतकर भूपाल आदि कई प्रान्त भी उसने अपने राज्य में मिला लिये थे।

प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान रखते हुए, तथा राज्य-शासन और राज्यविस्तार की भी उपेक्षा न करते हुए, दुर्गावती ने आदर्श-माता के कर्त्तव्य को भी न विसारा था। अपने प्रिय पुत्र वीर-नारायण की शिक्षा-दीक्षा की ओर उसने पूरा ध्यान दिया था। भाषा-ज्ञान एवं राज्य-प्रबंध के ज्ञान के साथ-साथ उसको वीरोचित अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। अश्वारोहण और गजारोहण में भी वीरनारायण पूर्णतया पटु हो गया था। राजनीति तथा शासन-संबंधी शिक्षा उसे स्वयं राज्य-मन्त्री आधार सिंह देते थे।

इस प्रकार पति के अभाव में महारानी ने लगभग १५ वर्ष तक बड़ी कुशलता से शासन किया। प्रजा की उत्तरोत्तर समृद्धि होती गई, राज्य का विस्तार हुआ, सुख-शान्ति बढ़ी, ऐश्वर्य बढ़ा, और बढ़ा उसकी पुण्य-गाथाओं का सौरभ, जो कस्तूरी-गंध के

समान उसके नाश का कारण हुआ और उसके राज्य-रूपी सूर्य के खग्रास का कारण बना।

५

उन दिनों अकबर—वह महत्त्वाकांक्षी अकबर जो प्रभुता और संपत्ति का पुजारी था—दिल्ली के सिंहासन पर बैठा हुआ भारत का मान-चित्र देखकर स्वप्न ले रहा था कि किसी दिन यह सारा भारत मेरे अधीन होगा। किसी दिन मैं भारत का एक-छत्र सम्राट् होऊँगा। बंगाल की खाड़ी से लेकर कंधार तक किसी दिन मेरी यशःपताका फहरा रही होगी और सब राजा मेरे आतंक से कंपित होंगे। अपने इस स्वप्न को वास्तविकता में परिणत करने के लिए वह सब उपाय प्रयुक्त कर रहा था। ब्याह से-शादी से, नाते से-रिश्ते से, धन से-मान से, डर से-धौंस से, प्यार से-फटकार से जैसे हो वैसे उसने भारत के समस्त शासन-सूत्रों को एक तार में बाँधना प्रारंभ कर दिया था। पुण्य-श्लोक हिन्दूपति महाराणा प्रताप को छोड़कर प्रायः अन्य सब वीरताभिमानी राजपूतों को किसी न किसी प्रकार से उसने अपने अधीन कर लिया था। उसका कथन था, कि एक राजा को सदा असंतोषी और विजय-शील होने का प्रयत्न करते रहना चाहिए अन्यथा उसके पड़ोसी राजा उसके विरुद्ध शस्त्र उठा सकते हैं। और अपनी सेना को सदा युद्ध में प्रवृत्त रखना चाहिए, अन्यथा शिक्षा, अभ्यास और कार्य के अभाव से वह सुस्त और आत्मघातक हो जाती है। आजीवन साम्राज्य-विस्तार की उसकी यही नीति रही।

इसी समय उसने दुर्गावती की योग्यता, युद्धकौशल, तथा गढ़मंडला की समृद्धि एवं ऐश्वर्य की गाथा सुनी। स्वार्थी अधि-कारियों ने उसमें नमक-मिर्च लगाया। अकबर की राज्य-पिपासा

जागरित हो उठी। उसके रहते एक स्त्री भी अपने राज्य का विस्तार करती जाय इस ईर्षा ने उसको आक्रमण के लिए प्रोत्साहित किया। उन प्रदेशों ने जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार न की थी. उनको पराधीनता की शृंखला में बाँधने के लिए उसने विजय-यात्रा प्रारंभ की। सबसे पहले उसने मध्य भारत को ही अपना लक्ष्य बनाया। उसके बाद उसने पश्चिम, पूर्व तथा दक्षिण की ओर ध्यान दिया।

उसने कड़ा तथा पूर्वीय प्रान्तों के सूबेदार आसफ़ख़ाँ को गोंडवाना की स्वतंत्रता को नाश करने का आदेश दिया। सम्राट् के आदेशानुसार आसफ़ख़ाँ ने बड़ी भारी सेना लेकर गढ़मंडला की ओर प्रयाण किया।

बिना किसी कारण, या अपराध के एक विधवा और अनाथ अबला का राज्य छीन लेने के लिए—उसे पराधीन बनाने के लिए—दिल्ली के दुर्दमनीय बादशाह का उसके राज्य पर चढ़ाई करना, कहाँ तक उचित है, कहाँ तक कीर्तिकर है, कहाँ तक शोभा देता है, इस का विवेचन तो कोई और करेंगे. अकबर तो लोभवश न्याय और अन्याय, औचित्य और अनौचित्य का विवेचन करने बैठा न था उसे तो राज्य बढ़ाने की लालसा इस कार्य के लिए प्रोत्साहित कर रही थी। एकच्छत्र सम्राट् बनने की धुन उसके सिर पर सवार थी। इसी लालसा और इसी धुन ने उसे अबला पर आक्रमण करने के अनुचित कार्य के लिए विवश किया। विन्सेंट स्मिथ ने ठीक लिखा है कि "स्वतंत्रता और ऐश्वर्य ही दुर्गावती का अपराध था।" उस अपराध का दण्ड देना महत्वाकाँक्षी सम्राट् अकबर के लिए आवश्यक था।

रानी दुर्गावती को जब आक्रमण का समाचार मिला तब

दुर्बल चित्त अबला के समान वह भयभीत नहीं हुई, अपितु सिंहनी के समान क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर उसने अपने क्षत्रियत्व का परिचय देना चाहा। वह जानती थी, भली प्रकार जानती थी कि उस महाप्रतापी दिल्लीश्वर के सम्मुख वह कभी भी विजय-लाभ न कर सकेगी, जिसके सामने कि अपनी वीरता और क्षत्रियत्व का अभिमान करने वाले आमेर तथा जयपुर-नरेश बिहारीमल जैसे राजा झुक चुके थे। तथापि डरपोक और कायर के समान शत्रुओं और विधर्मियों के सामने सिर झुकाने—बिना लड़े उनके हाथ आत्म-समर्पण करने की अपेक्षा, अपने देश की रक्षा के निमित्त—प्राणों से भी अधिक मूल्यवान स्वतंत्रता के लिए—वीरनारी के समान समरभूमि में मर कर स्वर्ग-प्राप्त करना ही उसने अधिक श्रेयस्कर समझा। माँ और वह बेटा जिसकी मूछें भी अभी न फूटी थी, मुग़लों को इस चढ़ाई का मज़ा चखाने के लिए तैयार हो गये। रानी ने अपने वीर सैनिकों को बुला कर कहा—

"देश पर बलिदान होने वाले वीरो, तुम्हें पता है कि तुम्हारी स्वतन्त्रता का नाश करने के लिए, तुम्हें पराधीन बनाने के लिए दिल्ली के बादशाह अकबर ने बड़ी भारी सेना भेजी है। आज तुम्हारी जन्म-भूमि भावी विपत्ति की सूचना पाकर क्रन्दन कर रही है। उसका गौरव, उसका यश, उसकी स्वतन्त्रता सब तुम्हारे हाथों में है। यदि तुम पराधीन होकर रहना चाहो तो तुम खुशी से बैठ सकते हो। पर यदि तुम समझते हो कि तुम्हारी जननी, जन्मभूमि की स्वतंत्रता तुम्हारे प्राणों से अधिक मूल्यवान है, यदि तुम समझते हो कि पराधीनता और गुलामी मृत्यु से बदतर है तो, वीरो! आओ आज एकत्र होकर दुर्दमनीय शत्रु को यह दिखलायें कि गढ़मंडला के एक भी वीर सैनिक के रहते हुए कोई उस पर

अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता। कोई उसकी स्वाधीनता को धूल में नहीं मिला सकता। तुम उसी की संपत्ति हो उसी के आन-अरमान भरे हीरे हो, वह तुम पर अभिमान करती है, यदि तुम उसके प्रति कुछ कर्त्तव्य समझते हो तो आओ रणक्षेत्र में जुट जाओ।"

"यदि किसी को धर्म पर भक्ति हो, यदि कोई स्वाधीनता के लिए प्राण देने को तैयार हो तो वह अकेला ही आवे। कच्चे दिल के, दुविधा में पड़े हुए व्यक्तियों को मैं नहीं चाहती। मुझे एकाग्र-चित्त और दृढ़-प्रतिज्ञ आदमी चाहिये। जिसको डर हो वह अभी से हम से अलग हो जाय।"

"वीरो! युद्ध-क्षेत्र में देश पर मरने वालों का नेतृत्व मैं स्वयं करूँगी, उनको अकेला युद्ध में भेजकर मैं सिंहासन पर नहीं बैठूँगी। मैंने तो आज यह प्रण कर लिया है कि यदि तुम मेरा साथ न भी दोगे तो भी मैं प्राण रहते शत्रुओं को गढ़मंडला की भूमि पर पैर रखने न दूँगी। गढ़मंडला मेरा है। मैं उसकी अधिकारिणी हूँ, रानी हूँ। उसी के अन्न और जल से मेरा और मेरे बच्चे का शरीर पला है, फिर इस शरीर पर मेरा अधिकार नहीं। यह गढ़मंडल का शरीर उसके ही वैभव की रक्षा में नष्ट हो जायगा। आज यदि मेरे स्वामी जीते होते तो मैं आराम कर सकती थी, पर उनके अभाव में मुझे आराम करने का कोई अधिकार नहीं, तुम लोग अपना निश्चय कर लो, जो रणक्षेत्र में अपनी प्राणाहुति देने को प्रस्तुत हैं, वे ही मेरे साथ आयँ। शेष आराम से जन्मभूमि को पराधीनता के बंधनों में बँधता देखें।"

रानी दुर्गावती के इस संकल्प को सुनकर सैनिकों की नसों में विजली दौड़ गई। भुजाएँ फड़क उठीं। सैनिकों ने विश्वास

दिलाया—"महारानी जी, आप चिन्ता न करें, जब तक हमारे शरीर में प्राण हैं तब तक कोई भी विधर्मी गढ़मंडला पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता।" तदनन्तर रानी और मातृभूमि के तुमुल जयनाद से आकाश गूँज उठा।

गढ़मंडला की साधारण प्रजा भी जन्मभूमि की स्वाधीनता की रक्षा के लिए बद्धपरिकर हुई। पुरुषमात्र जिनके बाहु-युगल खड्गधारण में समर्थ थे, रानी की पताका के नीचे खड़े होकर जय-लक्ष्मी की प्राप्ति की लालसा से शस्त्र चमकाने लगे। देखते ही देखते आठ सहस्र अश्वारोही और हज़ारों पदाति वहाँ उपस्थित हो गये। रानी दुर्गावती मुण्डमालिनी चामुण्डा के समान तुरगारूढ़ होकर अपनी सेना-सहित संग्राम-भूमि में आ उतरी। कुमार वीर-नारायण तो उस समय साक्षात् कार्त्तिकेय-सा प्रतीत होता था।

उधर आसफखाँ ने यह सोच रक्खा था कि शक्तिशाली दिल्लीश्वर के प्रचंड प्रताप की ज्वाला से भयभीत होकर अबला दुर्गावती अवश्य ही आत्मसमर्पण कर देगी, अथवा यदि वह पतंग की तरह मरने का निश्चय कर युद्ध ही करेगी तो क्षणमात्र ही में उसकी सेना नष्ट हो जायगी और हम उसे जीवित ही पकड़ लेंगे। परन्तु रणक्षेत्र में आकर उसे अपने भ्रम का ज्ञान हुआ। परन्तु उस समय क्या हो सकता था! वीर रानी के उत्साह-पूर्ण वाक्यों से उत्साहित होकर गढ़मंडला की सेना शत्रुओं को निर्दयता-पूर्वक काटने लगी। रानी और उसकी दो-चार चुनी हुई जीवन-मरण की संगिनियों के तेज का तो वर्णन ही नहीं हो सकता था। अंत में वीर गोंड सैनिकों के दुःसह तेज को न सहकर विपक्षी भाग निकले और आसफखाँ बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाने में समर्थ हुआ। विजय प्राप्त कर रानी दुर्गावती गढ़मंडला को लौट आई।

आसफ़खाँ के युद्धक्षेत्र से पलायन करने का समाचार यथा-समय अकबर को मिला। दिल्लीश्वर की सेना एक स्त्री से पराजित हो यह बड़ी लज्जा का विषय था। अन्य राजा क्या समझेंगे, अकबर यह सोचकर आग-बबूला हो उठा। डेढ़ वर्ष के अनन्तर, आसफखाँ को विपुल सैन्य के साथ उसने फिर गढ़मंडला पर आक्रमण करने के लिए भेजा। पिछली विजय से दुर्गावती की प्रजा के हौसले बढ़ गये थे। इस बार वे भी अधिक संख्या में एकत्र हुए। रानी दुर्गावती की सेना ने पहले से भी अधिक प्रचंड बल-विक्रम से संग्राम किया। एक बार फिर दुर्गावती की सेना की तेजोवह्नि में मुगल-सेना पतंग के समान दग्ध हो उठी। आसफखाँ इस दूसरी हार से अत्यधिक लज्जित हुआ। उसने अकबर को मुँह दिखलाना उचित न समझा। उसी ने लोभ दिलाकर, दुर्गावती को अबला बताकर गढ़मंडला पर आक्रमण करने के लिए अकबर को उकसाया था। उसे अब यह चिंता हुई कि किस प्रकार वह अपने इस कलंक का प्रक्षालन करे।

वह यह जानता था कि जब तक रानी दुर्गावती का एक भी योद्धा जीवित है तब तक वह कभी भी गढ़मंडला में प्रवेश न कर पायगा। इसलिए सरल मार्ग छोड़कर आसफखाँ ने कूट-नीति का अवलंबन किया। साम, दाम और दण्ड जब असफल रहते हैं तब 'भेद' का आश्रय लिया जाता है। गढ़मंडला में भी उसने विश्वास-घात का बीज बोया। वह बीज लोभ-रूपी जल के सिंचन से अंकुरित होकर शीघ्र ही एक प्रचंड पेड़ हो गया। खेद है कि इस विश्वासघातक वृक्ष को उखाड़ने में रानी समर्थ न हुई।

कहा जाता है कि दुर्गावती के बदनसिंह नामक एक जागीर-दार था, जो प्रजा पर अत्यधिक अत्याचार करता था। प्रजा की

बार-बार की शिकायत सुनकर प्रजावत्सल रानी ने उसकी जागीर ज़ब्त कर ली थी। इस पर वह आसफखाँ से जा मिला। आसफखाँ ने उसे विश्वास दिलाया कि जब गढ़मंडला जीत लिया जायगा, तो उसे राजा बनाया जायगा। पर बदनसिंह की स्त्री को जब इस घटना का पता लगा तो उसे प्राणान्तक पीड़ा हुई। पति की जागीर ज़ब्त होने पर वह गरीबी से गुज़ारा कर सकती थी परन्तु देश-द्रोह जैसा कलंक अपने कुल पर नहीं देखना चाहती थी। अतएव उसने पति को सूचित किया कि यदि वह अकबर से मिल गया तो वह उसे और बच्चों को जीता न पायगा। जब पति ने उसके उपदेश पर ध्यान न दिया तब वह दुर्गावती से जाकर मिली, और मृत्युकाल तक दुर्गावती के साथ रही।

दूसरा विश्वासघातक था गिरधारीसिंह। जो दुर्गावती का एक सरदार था, और जिसने प्रजा को अपने अत्याचारों से तंग कर रखा था। विवश होकर उसे दुर्गावती ने अपने किले में नज़रबंद कर दिया था।

इन दोनों विश्वासघातियों ने एक ओर अकबर और आसफखाँ को सब गुप्तभेद बताये, दूसरी ओर सेना को निरुत्साहित करने का प्रयत्न किया। विश्वासघात और फूट जहाँ भी आ जायँ उस राज्य का सत्यानाश शुरू से होता आया है। भारत पता नहीं कब तक इनका फल पाता रहेगा?

अपने राज्य में गृह-कलह की भयानक मूर्त्ति देखकर रानी डर गई। उसने जान लिया कि युद्ध में अब विजय की कोई आशा नहीं। तथापि प्राण रहते उसने मातृभूमि की रक्षा करने और युद्ध में मर कर स्वर्ग प्राप्त करने का निश्चय न छोड़ा।

अंतिम बार इस युद्ध को समाप्त करने के लिए ईसवी सन्

१५६४ में अकबर ने ७०,००० सैनिकों के साथ सूबेदार आसफ़खाँ और सेनापति अब्दुलमजीद खाँ को गढ़मंडला की ओर भेजा। इस समय उनके साथ देशद्रोही बदनसिंह भी था। उसे गढ़मंडला के सारे गुप्त मार्ग पता थे, अतः वही इस सेना का मार्ग-प्रदर्शक बना। यथा-समय मुग़ल सेना गढ़मंडला की सीमा पर जा पहुँची।

महारानी ने भी इस बार अंतिम युद्ध समझ कर अपनी समस्त सेना को इकट्ठा किया और आप भी रणक्षेत्र में सुसज्जित होकर आ गई। उसके साथ मुन्शी आधारसिंह और कुमार वीरनारायण भी थे। रानी ने अपनी सेना तीन भागों में विभक्त की। एक भाग का नायकत्व वह स्वयं कर रही थी, और बाकी दो भागों का बाबू आधारसिंह और वीरनारायण। फिर बाबू आधारसिंह और कुमार वीरनारायण की सेनाओं को दो विभिन्न दिशाओं में भेज दिया, और अपनी सेना लेकर वह शत्रु का सामना करने को आगे बढ़ी।

क्षणभर में ही मुग़ल सेना और रानी की सेना आमने सामने पहुँच गई। एक ओर समुद्र के समान विस्तृत मुग़ल सेना थी, दूसरी ओर जाति की रक्षा के लिए मुट्ठी भर गोंड इकट्ठे हुए थे। क्षण भर में ही घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। शूरवीर गोंड सैनिक मुगलों की सेना पर भूखे सिंह के समान टूट पड़े। एक-एक गोंड सैनिक उस समय दस दस शत्रुओं के लिए पर्याप्त प्रतीत होता था। फिर रानी को रणक्षेत्र में घूमते देख उनके जोश में ज्वार आ रहा था। रानी की प्रलयंकारी मूर्त्ति एवं गोंडों का अद्भुत रणकौशल देख मुगल-वाहिनी विह्वल हो उठी। रक्त की नदियाँ बह निकलीं। मुगलों की सेना को दूर तक खदेड़ कर उसी खूनी संध्याकाल में गोंडों ने विजयोल्लास से गर्जन प्रारम्भ किया। महा-

रानी उस दिन की विजय से अत्यंत प्रसन्न हुईं। उन्होंने अपने सैनिकों को विश्राम करने की आज्ञा दे दी।

आसफखाँ यह अवस्था देख आकुल हो गया। उसने इस बार निश्चय कर लिया था कि या तो विजय ही करूँगा, अथवा युद्धक्षेत्र में प्राण दे दूँगा। जब उसे यह समाचार मिला कि रानी की सेना विश्राम कर रही है तो उसने आधी रात में ही छल से उस पर आक्रमण कर दिया।

इस आकस्मिक 'वपत्ति से गोंड सैनिक घबरा उठे। महारानी को इस संकट के प्रतिकार का कोई उपाय न सूझ पड़ा। किन्तु इसी समय राजकुमार वीरनारायण अपने कुछ साथियों सहित शत्रु सेना के सम्मुख जा डटे। इन्हें देख महारानी का हृदय पुनः एक बार उत्साह से भर आया। वह तत्क्षण युद्ध में भाग लेने को सुसज्जित हो गईं। अब फिर तुमुल युद्ध प्रारंभ हुआ। क्षत्रिय बालक वीर नारायण शत्रुओं के आक्रमण भली-भाँति रोक रहा था। वह दोनों हाथों से तलवार चला रहा था। इसी बीच बिचारे बूढ़े आधार सिंह शत्रु के वार से आहत होकर भूमि पर गिर पड़े। इस पर मुग़ल सेना का साहस बढ़ गया। आसफखाँ अपने तोपखाने के साथ आगे बढ़ा। वीर नारायण इस भयंकर आक्रमण को लाख प्रयत्न करने पर भी न सँभाल सका, और भयंकर रूप से आहत होकर घोड़े से गिर पड़ा। कुमार के गिरते ही गोंड सैनिकों ने भागना प्रारम्भ किया। पर दुर्गावती ने उन को ललकारा और अपनी रानी को लड़ते देख वे फिर लड़ने को प्रस्तुत हो गये।

सेना के कई पुरुषों ने कुमार को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा कर रानी से प्रार्थना की कि इस अंतिम समय में एक बार आप

अपने पुत्र से मिल लीजिए। पर उस वीर रानी ने उत्तर दिया—"यह समय पुत्र से मिलने का नहीं है, बाबू आधारसिंह गये, कुमार जाने वाला है, यदि इस समय मैं भी रणभूमि छोड़ जाऊँगी तो यहाँ मुझे न देखकर सेना अस्तव्यस्त हो जायगी। यदि पुत्र का अन्तकाल उपस्थित है तो मुझे हर्ष है कि उसने वीर-धर्म का पालन किया और वीर-गति पाई, वह और मैं शीघ्र ही देवलोक में फिर मिलेंगे, यह समय मिलने का नहीं है।" धन्य रानी की वीरता, धन्य उसकी धर्म-निष्ठा।

यह कहकर वह भीषण हुँकार कर शत्रु सेना पर टूट पड़ी और चंडी का रूप धर कर शत्रुओं को धराशायी करने लगी। किन्तु यह क्रम कब तक चल सकता था। गोंडवाने के वीर सैनिक उस समय बहुत थोड़ी संख्या में शेष रह गये थे यद्यपि वे जीवन की आशा छोड़कर अत्यधिक साहस और उत्साह से लड़ रहे थे, परन्तु मुगलों की समुद्र के समान अपार सेना के सम्मुख मुट्ठी भर गोंड वीर कब तक ठहर सकते थे? फिर मुसलमानों के साथ भारी तोपखाना भी था। वे दनादन तोपें छोड़ रहे थे। उस भीषण अग्नि-वमन के सम्मुख तलवार के धनी गोंडों का कुछ वश भी न चल सकता था। यह देख महारानी दुर्गावती ने अब खुले मैदान को छोड़कर तंग घाटी में जाकर लड़ने का निश्चय किया। वह बचे-खुचे साथियों को लेकर गढ़मंडला से पूर्व कुछ दूरी पर स्थित एक तंग घाटी की ओर निकल खड़ी हुई।

शत्रु-सेना भी साथ-साथ वहाँ पहुँची। तंग घाटी में फिर भयंकर मार-काट प्रारम्भ हुई। गोंड सैनिक एक-एक कर नीचे गिरने लगे, परन्तु प्राण रहते वे युद्धभूमि न छोड़ सकते थे। दुर्गावती चारों ओर घूमकर अपने सैनिकों को उत्साह दे रही थी

और उसके तेज बाण शत्रुओं को स्वर्ग भेज रहे थे। उसी समय शत्रु दल की ओर से एक सनसनाता हुआ विषाक्त तीर आकर उसकी आँख में लगा। उस वीर रमणी ने उस बाण की किंचित् भी अपेक्षा न की और तुरंत उसे खींचकर बाहर निकालने का प्रयत्न किया। दैववश उसकी अनी टूट कर आँखों में ही रह गई। विष की विषम ज्वाला से शरीर का रोआँ रोआँ जल उठा। महारानी को असीम कष्ट होने लगा। अब उसने जीवन से निराश होकर बड़ी क्रूरता से विपक्षियों का संहार प्रारंभ किया। इस समय एक और बाण उसके कंठ को बेध गया। महारानी फिर भी विचलित न हुई।

इतने में मुगल सेना महारानी के सर्वथा निकट पहुँच गई। जब रानी ने देखा कि अब वैरियों द्वारा पकड़े जाने का भय है, और इस क्षत-विक्षत अवस्था में वह किसी प्रकार छुटकारा नहीं पा सकती, तब पकड़े जाकर गुलाम बनने से उसने मृत्यु को अपनाना प्रिय समझा और एक बार गढ़मंडला पर निराश दृष्टि डालकर कमर से एक छुरा निकाल कर उसने झट अपने वक्षःस्थल में भोंक लिया और सदा के लिए युद्धभूमि में सो गई। रानी का मृतक शरीर शत्रुओं के हाथ न लगे इसलिये गोंड वीरों ने उसे शीघ्र ही सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया। वहाँ माँ और पुत्र की एक साथ ही अंतिम क्रिया हुई।

अपनी माता-स्वरूपिनी रानी की मृत्यु का बदला लेने के लिए वे बचे बचाये सैनिक उन्मत्त केसरी के समान शत्रु-सेना पर टूट पड़े। पतंग जब बुझने लगता है तब अत्यधिक ज्वाला से प्रदीप्त होता है। सैनिक जब जीवन से निराश हो जाता है तब उसका प्रहार सहना कठिन होता है। कुछ क्षण तक उनका यह आक्रमण

देखकर मुगल-सेना दंग हो गई। पर शीघ्र ही वह खेल भी समाप्त हुआ। आसफखाँ की विजय हुई। गढ़मंडला पराधीन हुआ, अकबर के राज्य का विस्तार हुआ।

यों तो भारत में अनेक वीराङ्गनाएँ हुईं, जिन्होंने अपने देश के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग कर दिया, जिनके कार्यों का स्मरण कर शूरवीरों को भी दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है, पर दुर्गावती तो दुर्गा ही थी। उसका ओज, उसका पराक्रम, उसका त्याग, उसके बलिदान की कथा, सदा अमर रहेगी, चिरकाल तक भारतवासी कहेंगे—

धन्य सती, दुर्गावती, करि गढ़मंडल राज
रखा गोंडवानें तुही, खडग-धर्म की लाज
मत्त मुगल-दल दल मल्यौ गढ़मंडल रण ठानि
धनि दुर्गा दुर्गावती, रखी तुही कुल-कानि

———

चाँदबीबी

गढ़मंडला के पतन और वीरांगना दुर्गावती के स्वर्गवास के लगभग ३० वर्ष के पश्चात् अकबर—साम्राज्य-लोभी अकबर नर्मदा के उत्तरवर्ती समस्त भारत का ही नहीं अपितु काबुल गज़नी और कंधार के विस्तृत प्रदेशों का भी एक-छत्र सम्राट् हो गया था। उसने चित्तौड़ ध्वंस किया; राजपूताना के राजाओं को पराजित किया; गुजरात-विजय किया; बंगाल को पराधीन बनाया; काश्मीर, उड़ीसा, सिंध, बिलोचिस्तान, कंधार और काबुल को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। दर-दर के भिखारी, पर स्वतंत्रता के पुजारी हिन्दू-पति महाराणा प्रताप के चिर-उन्नत सिर को छोड़कर इस सुविशाल प्रदेश में कोई सिर ऐसा न था, जो उसके चरणों पर न झुका हो, जिसने उसकी अधीनता स्वीकार न की हो। पर तृष्णा का भी कभी अंत हुआ है, मनुष्य एक वस्तु पाकर दूसरी चाहता है और दूसरी पाकर तीसरी। इस तृष्णा के चक्कर में ही उसका अमूल्य जीवन व्यतीत हो जाता है। अकबर की भी वही दशा थी। वह अब ओक्सस नदी के पार के मध्य एशिया में स्थित अपने पूर्वजों की उपनिवेशों और दक्षिण के सुलतानों के राज्यों पर अपनी लालची आँखें डाल रहा था।

उसकी सेना की दक्षिण-यात्रा प्रारम्भ हुई। संसार ने तीस वर्ष के पश्चात् फिर वीरांगना दुर्गावती की एक अन्य बहन की शक्ति देखी। अकबर की इस बार की शिकार गोंड नहीं थी, राजपूतनी

नहीं थी, पर उसी के धर्म को मानने वाली एक मुसलमान वीरांगना थी। जिस प्रतापशाली दिल्लीश्वर की कुटिल भृकुटी को देख कर हज़ारों पुरुष शासकों ने पराधीनता स्वीकृत कर ली थी, उसी का मुक़ाबिला एक अबला करे यह क्या कम आश्चर्य की बात थी ! भारत में ही नहीं अपितु सभ्य संसार में बहुत कम स्त्रियों को राज-धुरा का भार अपने कोमल कंधों पर धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है पर उनमें से भी जो सफलता-पूर्वक इस भार को निवाह सकी हैं, उन में उस स्त्री का नाम भी सम्मिलित होगा। उसका नाम था सुलताना चाँदबीबी।

२

वीरांगना चाँदबीबी अहमदनगर के सुलतान हुसैन निज़ाम-शाह की बेटी थी। उसके विषय में कुछ लिखने से पहले तत्कालीन दक्षिण भारत के इतिहास तथा अहमदनगर के राज्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा।

सन १३२५ में मुहम्मद तुग़लक दिल्ली का बादशाह बना। वह विद्वान्, सुशिक्षित होता हुआ भी सफल शासक नहीं कहा जा सकता था। उसके समय में स्थान-स्थान पर विद्रोह प्रारम्भ हुआ। एक ओर बंगाल अफ़गान-साम्राज्य से अलग हो गया, दूसरी ओर दक्षिण में हरिहर नाम के हिन्दू वीर ने मुहम्मद तुग़लक के विरुद्ध विद्रोह किया और विजयनगर के शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। धीरे-धीरे दक्षिण-भारत का बहुत-सा भाग विजय-नगर की अधीनता में आगया, सुदूर दक्षिण में अफ़गान साम्राज्य की इति-श्री होगई। तुंगभद्रा से लेकर कुमारी अंतरीप तक यह साम्राज्य विस्तृत था। इसके सिवाय सन् १३४७ में देवगिरि को केन्द्र बनाकर हसनगंगू ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जो

इतिहास में बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहमनी राज्य बहुत देर तक स्थिर न रह सका, पन्द्रहवीं सदी के मध्य-भाग में वह टुकड़ों में विभक्त होने लगा और अंत में बहमनी राज्य के खँडहरों पर निम्नलिखित पाँच नवीन राज्यों की उत्पत्ति हुई।

१ अहमदनगर का निजामशाही राज्य।

२ बीजापुर का आदिलशाही राज्य।

३ गोलकुंडा का कुतुबशाही राज्य।

४ बीदर का बरीदशाही राज्य।

५ बरार का इमादशाही राज्य।

ये पाँचों राज्य भी आपस में सदा युद्ध करते रहते थे। इधर विजयनगर का हिन्दूराज्य दिन पर दिन उन्नति कर रहा था। विजय नगर के हिन्दू-सम्राटों का भी निरन्तर बहमनी राज्य से युद्ध छिड़ा रहता था। वहाँ का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा कृष्णदास १५०९-१५३० में हुआ। उसने अपने पड़ौसी मुसलमान राजाओं को अनेक युद्धों में हराया। उसके बाद १५५८ में बीजापुर के सुलतान अली आदिलशाह ने विजयनगर के रामराजा के साथ संधि कर हिन्दू और मुसलमानों की एक बड़ी सेना को लेकर अहमदनगर पर आक्रमण किया। कहा जाता है कि रामराजा ने इस युद्ध में बड़ी निर्दयता से मुसलमानों का नाश कर गत २०० वर्षों में हिन्दुओं पर मुसलमानों ने जो अत्याचार किये थे उनका प्रतिकार करना चाहा। साथ ही उसने अपने मुसलमान साथी बीजापुर के सुलतान के साथ भी अच्छा सलूक न किया। अब दक्षिण के मुसलमान राज्य यह समझने लगे कि जब तक वे आपस में एक साथ न मिल जायँगे तब तक वे विजयनगर के समृद्ध और शक्तिशाली साम्राज्य से टक्कर नहीं ले सकते। धीरे-धीरे बीजा-

पुर, बीदर, गोलकुंडा और अहमदनगर के चारों सुलतानों को यह विश्वास और भी दृढ़ होगया कि अपने-अपने स्वार्थ के लिए उन्हें आपस की प्रतिद्वंद्विता का परित्याग कर देना चाहिये और जातीय शत्रु हिन्दू-राज्य के विध्वंस के लिए उन्हें एक साथ मिल जाना चाहिये। इस मेल को दृढ़ करने के लिए अहमदनगर के सुलतान हुसैन निज़ामशाह ने अपनी लड़की चाँदबीबी का विवाह बीजापुर के सुलतान अली आदिलशाह से कर दिया, और अलीआदिलशाह ने अपनी बहन का विवाह अहमदनगर के सुलतान के सबसे बड़े राजकुमार के साथ कर दिया।

इस प्रकार आपस में मेलकर चारों सुलतानों ने विजयनगर के हिन्दू सम्राट्-रामराजा के साथ युद्ध प्रारम्भ कर दिया। वृद्ध रामराजा ने बड़े कौशल से उनका सामना किया। परन्तु एक मस्त हाथी के आक्रमण से रामराजा रण-भूमि में गिर पड़ा। उसके गिरते ही वह कैद कर लिया गया। और उसका सिर काट कर एक लंबे भाले के द्वारा इस प्रकार ऊँचा कर दिया गया कि हिन्दू-सेना को वह भली-भाँति दिखाई दे सके। राजा के पतन के पश्चात् हिन्दू रणक्षेत्र से भागने लगे, उनका पराजय हुआ और विजयनगर के समृद्ध साम्राज्य का विध्वंस होगया। मुसलमान सुलतान निश्चिंत होगये उनके साम्राज्य की सीमा बढ़ी।

३

चाँदबीबी में विभिन्न प्राकृतिक गुणों का अद्वितीय सम्मिश्रण था। वह अनुपम सुन्दरी थी, बुरके के स्थान पर वह सदा पतले से कपड़े का प्रयोग करती जिसमें से उसका देवदुर्लभ सौंदर्य झलकता रहता था। साथ ही वह युद्धकला में भी निष्णात थी, उसका हृदय वीरता की भावनाओं से भरा था, और वह कुशल

घुड़सवार थी। युद्ध में तथा शिकार में वह सदा सुलतान का साथ देती थी इसके साथ ही ललितकलाओं और साहित्य से भी उसे बड़ा प्रेम था। वीणावादन में राज्य भर में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न था, जिस समय अपने कोमल-करों में वीणा लेकर वह अलापती, उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वीणा-वर-दण्ड-मण्डित-करा भगवती भारती ने ही स्वयं इस संगीतसाज का समारोह किया हो। चित्रकला से भी उसे अत्यधिक प्रेम था, फूलों और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण का उसे बड़ा शौक था। अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त वह अरबी, फारसी, तुर्की और मराठी भाषाएँ भी जानती थी, उनमें धाराप्रवाह बातचीत कर सकती थी। सारांश यह कि लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा तीनों की ही उस पर कृपा प्रतीत होती थी।

पति-पत्नी दोनों में अद्भुत प्रेम था। चाँदबीबी अपने पति के चरणों पर जीवन लुटाने के लिए सदा प्रस्तुत रहती थी। सुलतान अलीआदिलशाह भी उसे प्राणों से बढ़कर प्यार करता था। दोनों प्रेम-संसार में बड़े आनन्द से जीवन बिता रहे थे। परन्तु विधाता ने किसका सुख देखा है! क्रूर काल ने अलीआदिलशाह को अधिक दिनों तक इस स्वर्ग-सुख को लूटने का सौभाग्य न दिया। सन् १५.९. में अन्तःपुर के एक सेवक द्वारा वह मार डाला गया। मृत्यु के समय अलीआदिलशाह ने अपने भतीजे इब्राहीम आदिल को को अपना उत्तराधिकारी बनाया। किन्तु वह अभी बालक था, राज्य की बागडोर पकड़ने की उसमें शक्ति नहीं थी। अतः सुलतान ने चाँदबीबी को उसका संरक्षक नियत किया। इससे यह भलीभाँति प्रकट होता है कि सुलतान चाँदबीबी पर कितना विश्वास करता था इससे अधिक अच्छा चुनाव भी न हो सकता था। परन्तु

समय के बीतने के साथ-साथ सरदार बागी होने लगे, उन्हें एक स्त्री का शासन असह्य प्रतीत होता था, वे ईर्षा से जलने लगे। पहले उन्हें कुछ सफलता मिली, यहाँ तक कि चाँदबीबी को सितारा भाग जाना पड़ा। पर पीछे उनमें से प्रत्येक बीजापुर के सिंहासन पर अपना अधिकार जमाने की इच्छा करने लगा, उनकी पारस्परिक कलह से नवयुवक राजा को लाभ हुआ, जो कि अब शासन के काम में हस्ताक्षेप करने लग गया था। चाँदबीबी को पुनः बुलाया गया और राजा ने उसका हार्दिक स्वागत किया। चाँदबीबी ने अपने पौरुष से विद्रोहियों को परास्त कर चारों ओर शान्ति का नूतन साम्राज्य फैला दिया। परन्तु चाँदबीबी अब शासन-कार्य से उकता गई थी, और आराम चाहती थी, अतः वह केवल उस समय ही शासन का कार्य करती थी, जब कभी नवयुवक सुलतान युद्ध में या दौरे पर जाता था।

४

परन्तु वह अधिक देर तक यह शान्त जीवन न बिता सकी। एक दिन अहमदनगर के एक दूत ने आकर सूचना दी कि वहाँ बड़ी गड़बड़ मची है, चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य है। सुलतान हुसैन निज़ामशाह स्वर्ग सिधार चुके हैं, सिंहासन पाने के लिये दो दलों में भयंकर विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो रही है। राज्य इस तरह गृह-कलह में व्यस्त है और उधर शक्तिशाली दिल्ली-सम्राट् अकबर का पुत्र शाहज़ादा मुराद अपनी असंख्य सेना के साथ दक्षिण के राज्यों को पराधीन बनाने के लिए इधर आ रहा है और अहमदनगर को हथियाने की सोच रहा है। इस समय आप चलकर अपने पिता के राज्य की रक्षा करें और वहाँ शान्ति स्थापित करें।

चाँदबीबी इस प्रार्थना की उपेक्षा न कर सकी। वह गृह-कलह के कारण अपने पिता के राज्य को दूसरे के हाथ में जाते हुए न देख सकती थी। तत्क्षण वह अपने पुत्र अब्बास के साथ अहमद-नगर को प्रस्थान करने के लिए प्रस्तुत हो गई। अहमदनगर के दूत से वह बोली—अपनी मातृभूमि की समृद्धि ही मुझे प्रिय है, परन्तु कुछ भी हो, मैं स्त्री ही हूँ। यदि तुम मुझे अपना नेता स्वीकार करने को तैयार हो तो मैं चलने को प्र तुत हूँ। यदि तुम इसके लिए प्रस्तुत न हो, अपने गृह-कलह को शान्त कर मुराद से लोहा लेने को तैयार न हो तो मेरे जाने का कोई फल नहीं।

दूत ने विश्वास दिलाया कि आपका नाम ही हम में उत्साह और साहस भर देगा और आपके वहाँ चलने से ही चारों ओर शान्ति हो जायगी। आप इस अवसर पर हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अहमदनगर को चलें।

सुलताना बोली—तुम्हारा इतना आश्वासन पर्याप्त है। मैं अवश्य चलूँगी। यह मेरा कर्त्तव्य है और खुदा की यही मरज़ी है। शाहजादा मुराद भी समझ जायगा कि अहमद नगर का हथियाना सहज नहीं है।

दूत रवाना हुआ चाँदबीबी ने अपने पुत्र अब्बास तथा पुत्र-वधू ज़ोरा और कुछ चुने हुए सिपाहियों के साथ अहमदनगर की ओर प्रस्थान किया। अहमदनगर के लोगों ने बड़े प्रेम से उसका स्वागत किया। चाँदबीबी ने शीघ्र ही वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन कर लिया, और वहाँ शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना कर दी। वास्तविक उत्तराधिकारी को अहमदनगर के सिंहासन पर बिठाया गया। साथ ही चाँदबीबी ने अहमदनगर की पहाड़ियों की रक्षा के लिए बीजापुर और गोलकुंडा के वीर सैनिकों को बुला लिया।

परन्तु किले के विश्वास-घातक मालिक ने शाहज़ादा मुराद को कहला भेजा कि तुम शीघ्र ही आक्रमण की तैयारी करो। एक बदनाम औरत इस समय शासन-सूत्र को अपने हाथ में ले रही है और वह एक ऐसे बच्चे को राजसिंहासन पर बिठा रही है जिसका इस सिंहासन पर कोई अधिकार नहीं है।" दुर्गाध्यक्ष के इस विश्वास-घात का शीघ्र ही पता लग गया, और उसका अंत कर दिया गया।

उसके बाद रानी ने मुराद को लिख दिया कि यदि तुम सम्राट् के पुत्र की हैसियत से और एक मित्र के समान अहमदनगर में आओगे तो हम तुम्हारा स्वागत करेंगे। परन्तु यदि तुम शत्रु-रूप से हमें पराधीन बनाने की इच्छा से आओगे तो जब तक हमारे सैनिकों में रक्त की एक भी बूँद रहेगी, तब तक हम तुम्हें अहमदनगर पर अधिकार न करने देंगे। साथ ही सुलताना ने युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। सब सरदार परस्पर के वैर-भाव को भूल कर देश की स्वाधीनता के लिए सुलताना के झंडे के नीचे एकत्र हो गये। वह स्वयं रक्षा के प्रत्येक विभाग का निरीक्षण करती फिरती थी और रसद तथा भंडार का भी उसे पर्याप्त ध्यान था।

इधर मुराद ने असंख्य मुगल-सेना के साथ अहमदनगर को चारों ओर से घेर लिया। अहमदनगर को बाहर से किसी ओर से सहायता न मिल सकती थी। धीरे-धीरे मुराद के सैनिकों ने आगे बढ़ना प्रारंभ किया। ज्यों-ज्यों वे किले के पास पहुँचने लगे त्यों-त्यों वे बारूद के द्वारा किले की परिधि को उड़ाकर भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न करने लगे। पर दूसरी ओर से सुलताना उनके प्रत्येक कार्य को विफल कर रही थी। उसके अरबी गोलंदाज़ जो कि सधे हुए निशाने बाज़ थे, मुराद के सैनिकों को गोलों का

शिकार बना रहे थे और उनकी भयंकर अग्नि-वर्षा कर रहे थे। यदि कहीं से किले की दीवार टूट जाती तो सुलताना स्वयं अपने सामने उसकी एकदम मरम्मत करवाती थी।

मुराद को यह आशा न थी कि उसे अहमदनगर को पराधीन बनाने में इतनी कठिनता का समना करना पड़ेगा। इधर अकाल का डर था, और दिन प्रतिदिन मुराद घबराता जाता था।

घेरा पड़ा रहा। एक दिन रात के समय चाँदबीबी अपने किले की छत पर टहल रही थी। इसी समय रात के अन्धकार में किसी ने उसे पुकार कर कहा—"बहादुर सुलताना! तुमने देश के मान के लिए खूब लड़ाई की है। परन्तु अब जहाँ पर तुम खड़ी हो, ठीक उसी स्थान के चारों ओर चार पाँच जगह पर सेंध लगा दी गई है और बारूद भर दिया गया है, कल सबेरा होते-होते तुम्हारा किला मिट्टी में मिल जायगा। अब भी मुराद को आत्म-समर्पण कर दो, और इस रक्त-पात को बचा लो।" यह सुन कर अहमद नगर के सैनिकों में अत्यधिक भय का संचार हो गया। उनमें से कइयों ने सुलताना को आत्मसमर्पण के लिए कहा। परन्तु वह दृढ़ थी। उसने निर्भीक शब्दों में कहा—"आत्मसमर्पण सर्वथा असंभव है। मेरी नसों में जब तक रक्त की एक भी बूँद है तब तक मैं युद्ध करके देश की रक्षा करूँगी, मेरे जीते-जी कोई शत्रु किले में प्रवेश न कर सकेगा। औरत हूँ तो क्या, स्वयं परमात्मा मेरी सहायता करेगा। मैं अपनी कोमल अँगुलियों से पृथ्वी खोदकर बारूद के भय को दूर कर दूँगी परन्तु युद्ध न छोड़ूँगी। सुलताना के इन शब्दों ने सब सैनिकों में साहस भर दिया, उनका हृदय दुगना हो गया और उन्होंने एकस्वर में सुलताना को विश्वास दिलाया कि प्राण रहते हम कभी भी आपका साथ न छोड़ेंगे।

यदि खुदा की मरज़ी होगी तो हम मर जायँगे, पर आत्मसमर्पण न करेंगे।

कुदाल हाथ में ले रानी ने स्वयं अपने दल के साथ रात भर खोदकर बारूद को नष्ट कर दिया और वे तीन-चार स्थान जहाँ सेंध लगाकर बारूद भरी गई थी, सर्वथा निकम्मे हो गये।

मुगलों को किसी तरह इसकी सूचना मिल गई। शाहज़ादा मुराद शीघ्र ही उस स्थान पर पहुँचा। यह देखकर वह बड़ा निराश हुआ कि उसका महीने भर का काम एक ही रात में मटिया-मेट हो गया। परन्तु एक ऐसा स्थान था जिसका पता सुलताना को न लगा था, और शाहज़ादा ने तत्क्षण ही उसमें आग लगाने की और क़िले पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। बारूद के फटने से बड़े ज़ोर का धड़ाका हुआ और एक स्थान पर दीवार फट गई। किन्तु चाँदबीबी विचलित होने वाली न थी। उसने एक क्षण की भी देरी न की और चेहरे पर नकाब डाले हाथ में नंगी तलवार लेकर उस स्थान पर जा पहुँची। बहादुर सिपाहियों को ललकार कर बोली—बहादुरो! अपमान से मृत्यु अच्छी! आज तुम्हारी परीक्षा का समय है, यदि तुम अपने देश का मान रखना चाहते हो तो इसी स्थान पर पहाड़ की चट्टान की तरह खड़े हो जाओ। खबरदार! कोई मुगल सिपाही किले में घुसने न पाये।

सैनिकों ने समझा था कि सत्यानाश हो गया। परन्तु रानी के अद्भुत साहस और कौशल ने उसे बचा लिया। वह दीवार फिर खड़ी हो गई। अपितु वह एक ऐसा स्थान बन गया जहाँ से बन्दूकची आक्रमण-कारियों पर अच्छी तरह निशाना मार सकते थे। मुराद और सुलताना दोनों ने भरसक प्रयत्न किया। आक्रमण-कारी और रक्षक दोनों ही उस स्थान की ओर दौड़ रहे थे। पर

रानी ने उस समय किले के भीतर की प्रत्येक तोप का मुख उसी ओर मोड़ दिया और शाहज़ादा मुराद यह समझ गया कि अहमदनगर को जीतना लोहे के चने चबाना है।

चाँदबीबी ने जो आशा की थी, वही हुआ। मुगल-सेना के सेनापतियों ने यह समझ कर कि टूटे हुए स्थान से किले का रास्ता खुल गया है, पिछली सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी थी। समुद्र की तरंगों के समान मुगल-सैनिकों की पंक्ति पर पंक्ति उस ओर बढ़ रही थी। परन्तु दूसरी ओर से तोप के गोले अनथक बन उन्हें धराशायी कर रहे थे। मुगलों का अत्यधिक जन-नाश हुआ। जब रात पड़ने लगी तो इन्होंने धीरे-धीरे पीछे हटना प्रारम्भ किया। जब अब्बास शत्रुओं को हरा कर उस स्थान से वापिस आया तो माता चाँदबीबी और उसकी स्त्री ज़ोरा की आँखों से हर्ष के आँसू उमड़ पड़े।

शाहज़ादा मुराद बुरी तरह अपमानित हुआ। एक स्त्री ने उसे हरा दिया। मुराद ने समझ लिया कि उसका कोई प्रयत्न अब सफल नहीं हो सकेगा, अतएव उसने बरार प्रान्त लेकर संधि कर ली।

अहमदनगर में अब शान्ति का राज्य था। परन्तु वह शांति क्षणिक थी। स्वार्थी मंत्री आपस में ही लड़ने लगे थे। फिर गृह-कलह प्रारंभ हो गया। अकबर ने अपने दूसरे पुत्र दानियाल को अहमदनगर को पराजित करने का दुबारा प्रयत्न करने को भेजा।

चाँदबीबी ने एक बार फिर मुगलों के साथ युद्ध की तैयारी की। परन्तु इस बार उसे विजय की आशा कम थी। उसकी सेना बहुत कम हो गई थी, साधन भी न रहे थे, अतः सफलता की बहुत कम आशा थी।

हामिदखाँ किले के तोपखाने का अध्यक्ष था। सुलताना का उस पर बड़ा विश्वास था, इसीलिए वह इतने ऊँचे पद पर पहुँच सका था। परन्तु हामिद अब्बास से ईर्षा करता था, अतएव सुलताना से भी घृणा करता था। वह स्वयं राजसिंहासन चाहता था, इसलिए वह सुलताना का अंत करने को तुला था। सुलताना को उस दुष्ट की इस दुरभिसन्धि का किंचिन्मात्र भी पता न था।

मुग़ल-सेना अहमदनगर की दीवारों तक पहुँच गई। अब्बास यह समझता था कि सफलता की आशा बहुत कम है अतः उसने चाँदबीबी को अहमदनगर छोड़ने के लिए कहा परन्तु उस वीरांगना ने न माना। उसने कहा कि वह पहले की तरह ही सेना का नेतृत्व करेगी; शत्रु का सामना करेगी और लड़ते-लड़ते प्राण देगी, पर न अहमदनगर को छोड़ेगी और न आत्म-समर्पण करेगी।

चाँदबीबी को सफलता की आशा बहुत कम थी। उसने सोचा था कि वह अपने सिपाहियों को सत्यानाश से बचाने के लिए कोई उपाय कर लेगी और उसने हामिदखाँ को परामर्श करने के लिए बुलाया।

वार्त्तालाप करते हुए चाँदबीबी ने कहा कि इस बार सफलता की आशा कम है क्योंकि हमारे सरदारों को गृह-कलह के घुन ने खा लिया है। उनमें से कई विश्वासघातक हो गये हैं। ऐसे बहुत कम हैं जिनका मैं विश्वास कर सकूँ।

यह सुन हामिदख़ाँ को संदेह होगया कि सुलताना मेरा षड्यंत्र जान गई है। वार्तालाप छोड़कर शोर को सुनने के बहाने से वह बाहर गया और क्षणभर में वापिस आ गया। चाँदबीबी उससे कुछ पूछना ही चाहती थी कि हामिदखाँ ने अपनी कटारी उसके वक्षःस्थल में भोंक दी। वह गिर पड़ी। ज़ोरा यह सुन वहाँ

पहुँची, उसने चाँदबीबी के होठों में पानी लगाया, परन्तु चाँदबीबी ने उसे हटा दिया, और मरण-समय के क्षीणस्वर में कहा—"मुझे फरिश्ते बुला रहे हैं, उनका हुक्म मैं कैसे टाल सकती हूँ, अल्लाह तेरी मरजी।" यह कहकर सुलताना सदा के लिए सो गई, उसके प्राण अमरता की विभूतियों में जा मिले।

हामिदखाँ के विश्वासघात का वृत्तान्त अब्बास को मिला। उसे तत्क्षण पकड़ लिया गया, और उसके गले में रस्सी बाँधकर एक पेड़ से टाँग दिया गया, ताकि उसे विश्वासघात का फल मिल जाय। किन्तु इससे क्या हो सकता था ? शासक-विहीन अहमद नगर पर मुगलों ने अपना अधिकार कर लिया।

तीस वर्ष बाद अकबर के साम्राज्य की सीमा नर्मदा पार कर गोदावरी तक पहुँच गई, अपितु उससे भी कुछ आगे।

वीरांगना दुर्गावती की मृत्यु के तीस वर्ष बाद संसार ने उस वीरांगना का दुखद अंत देखा जिसने देश और जाति के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दिया था तिस पर भी जिसका अपने ही लोगों के हाथ से अंत हुआ। उसकी वीरता की कहानी सदा अमर रहेगी। अहमदनगर की प्रजा ही नहीं, अपितु समस्त भारत, वरन् समस्त संसार उसकी प्रशंसा के गीत गाता है और कहता है—

मुगलन पै झपटी मनो, रणसिंहनि तजि माँद।
अकबर-मद मर्दन कियो, धनि सुलताना चाँद॥

हाड़ी रानी

१

आजीवन दुःख भोगने वाली भगवती सीता जी का करुणा-पूर्ण आख्यान, धर्माचारिणी गांधारी द्वारा लोलुप पुत्र को दिया गया उपदेश तथा रण से विमुख कापुरुष पुत्र को पुनः रण-यात्रा के लिए उद्यत करती हुई वीर माता विदुला के वीर-वचन हम लेख-बद्ध कर चुके; अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जिसने अपने जीवन और सौन्दर्य को स्वाहा कर दिया उस पद्मिनी की, तथा स्वामी के पुत्र की रक्षा के लिए अपने अबोध शिशु का बलिदान करने वाली स्वामी-भक्ता पन्नाधाय की पुण्य-गाथाएँ भी हम चित्रित कर चुके; प्रबल शत्रु का मान-मर्दन करने वाली, अपने देश और अपनी जाति की स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राण होम देने वाली रानी दुर्गावती और सुलताना चाँदबीबी जैसी वीराँगनाओं का गुण-गान भी हम कर चुके; पर अगले पृष्ठों में जिस देवी की कथा हम कहने लगे हैं, उसका छोटा-सा जीवन, उसका महान त्याग, उसका अनूठा बलिदान इन सबसे निराला है और किसी दृष्टि से इन सबसे महान् भी कहा जा सकता है। पाठकगण! आप स्वयं ही सोचिये, एक सर्वथा अपरिचित हिन्दू बहन के सतीत्व की रक्षा के लिए अपने प्राण देने को उद्यत पति को कर्त्तव्य-च्युत होता देखकर सद्यःविवाहिता पत्नी का यह सोचना कि मेरे इस तुच्छ शरीर के मोह में पड़ कर ही वे कर्तव्य-च्युत हो रहे हैं और इसके नष्ट हो

जाने पर वे प्राणों का मोह छोड़ कर्तव्य का पालन कर सकेंगे और प्रसन्नता से अपना सिर काट करके दे देना कितना महान बलिदान है, कितना महान त्याग है ! क्या इसकी कहीं समता मिल सकती है !

वह देवी, हाड़ी रानी के नाम से प्रसिद्ध है। उसका जन्म बूँदी के हाड़ा-वंश में तथा विवाह मेवाड़ के वीर सरदार चूड़ावत से हुआ था। परन्तु अभी उसका ब्याह हुए दो चार दिन भी न हो पाये थे, अभी उसके हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा बढ़ा रहा था, अभी सुहाग-रात भी न मनाई गई थी, कि उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने उसके नश्वर जीवन का नाश कर उसके नाम को अमर कर दिया।

२

राठौरों की रूपनगर नाम की एक छोटी-सी रियासत थी। वहाँ की राजकुमारी प्रभावती अपने अद्वितीय रूपलावण्य के कारण बड़ी प्रसिद्ध थी। जब दिल्ली के सम्राट् औरंगज़ेब ने उसकी सौंदर्य की गाथा सुनी, तब वह भी उसको पाने के लिए लालायित हो उठा। उसने रूपनगर के राजा के पास यह संदेशा भेजा कि प्रभावती को तत्क्षण दिल्ली भेज दो, मैं उससे विवाह करना चाहता हूँ। संदेश के साथ ही साथ दो हज़ार घुड़सवार रूपनगर को रवाना कर दिये।

उस समय देश के समस्त राजपूत दिल्ली के सम्राट् की सत्ता को स्वीकृत कर चुके थे। उदयपुर-नरेश को छोड़ सभी उसके चरणों में मस्तक झुकाने को प्रस्तुत थे। फिर रूपनगर जैसी छोटी सी रियासत का राजा प्रतापशाली दिल्लीश्वर के कथन का कैसे तिरस्कार कर सकता था। तत्कालीन परिस्थिति में उसके लिए

और कोई उपाय भी न था। उसे विवश हो वह संबंध स्वीकृत करना पड़ा। कई लेखकों ने लिखा है कि राजा ने इस प्रस्ताव पर हर्ष प्रकट किया, पर यह ठीक नहीं।

मुसलमान इतिहासकारों द्वारा बनाये गये अकबरनामा आदि इतिहास-ग्रंथों में तो यह भी लिखा मिलता है कि अमुक हिन्दू राजा ने बादशाह से यह प्रार्थना की कि मेरी लड़की अद्वितीय सुंदरी है अतएव उसे सम्राट् के अन्तःपुर में सम्मिलित करने की कृपा की जाय। परन्तु यह कथन सर्वथा मिथ्या और खुशामद से भरा हुआ है। किसी हिन्दू राजा ने प्रसन्नता से कभी बादशाह को अपनी लड़की देने की इच्छा प्रकट नहीं की। जब इसके लिए उन पर दबाव डाला जाता था, तब भी उन्हें लाचार होकर राज्य की रक्षा के लिए उस समय की परिस्थिति पर विचार कर अपनी लड़कियाँ बादशाहों को देनी पड़ती थीं। उसी भाँति रूपनगर का राजा भी बाधित था।

३

प्रभावती आदर्श राजपूतनी थी। वह बचपन से धर्म-कथा सुना करती थी। धर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी और विधर्मियों से थी उसे बड़ी घृणा। जब उसने सुना कि दिल्लीश्वर उसको पाने का प्रयत्न कर रहा है तब उसे बहुत दुःख हुआ, चिंता हुई, और क्रोध हुआ। उसने अपने माता और पिता से पूछा कि इस विपत्ति से बचने का क्या उपाय है। जब राठौर कोई उपाय न सोच सके तो उन्होंने प्रभावती को विवाह के लिए सहमत करने का प्रयत्न किया। परन्तु इस प्रस्ताव को सुनते ही प्रभावती का सारा शरीर जल उठता था। घुट्टी के साथ जिसने विधर्मियों के प्रति घृणा करने का पाठ पढ़ा हो वह उनके साथ विवाह की बातें कैसे सुन

सकती थी। कुमारी ने अपने काका को बुलाकर सारी कथा कही। काका ने भी असमर्थता प्रकट की। तब प्रभावती ने उन्हें अपना दृढ़ संकल्प बता दिया कि मैं मर जाऊँगी किन्तु औरंगज़ेब को अपनी छाया तक छूने न दूँगी। यदि आप मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो विष या छुरी मेरी रक्षा करेगी।

प्रभावती को रात भर चिंता के कारण नींद नहीं आई। एक ओर औरंगज़ेब की विशाल शक्ति थी दूसरी ओर माता-पिता की विवशता और स्वीकृति। उसे अपना विनाश प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था, डर था कि उसके कारण कहीं रूपनगर भी न उजड़ जाय। उसे चिंतित देख उसकी एक सखी ने चिंता का कारण पूछा। प्रभावती ने उसे सारी कथा कह दी, और बतलाया कि कुछ ही दिनों में औरंगज़ेब की सेना मुझे लेने को आ जायगी, पर उससे पहले ही मैं अपना अंत कर लूँगी, तुम सबसे सदा के लिए बिछुड़ जाऊँगी। सखी ने राजकुमारी को धीरज बँधाते हुए कहा—"बहन, विपत्ति आई है तो उसे अब सहना ही पड़ेगा, किन्तु मैं तुम्हें एक युक्ति बताती हूँ, कदाचित् इस युक्ति से तुम्हारे मान की रक्षा हो जाय, और तुम्हें प्राण न देने पड़ें। हिन्दूपति उदयपुर-नरेश महाराणा राजसिंह बड़े दयालु और वीर हैं, तुम उन्हीं को पत्र लिखो, वे अवश्य तुम्हारी सहायता करेंगे।

राजसिंह का नाम सुनते ही प्रभावती का हृदय-कमल आशा की किरणों से विकसित हो गया। मन ही मन कुछ विचार कर उसने महाराणा को पत्र लिखा और अपने विश्वस्त पुरोहित अनंत-मिश्र के हाथ वह पत्र महाराणा की सेवा में भेज दिया। पुरोहित को आदेश कर दिया था कि जिस प्रकार भी हो यह पत्र महाराणा के हाथ में पहुँचाना, और जिस समय वे पत्र पढ़ने लगें उस समय

यह मोतियों की माला उनके गले में डाल देना तथा उनसे विनय-पूर्वक कह देना कि एक दुःखी अबला अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आपसे सहायता की भीख माँग रही है।

मार्ग के अनेक कष्टों को सहन करता हुआ पुरोहित राजसभा में पहुँचा, और उसने पत्र राणा के हाथ में दे दिया। राणा जब पत्र पढ़ रहे थे, तब पुरोहित ने प्रभावती के आदेशानुसार मोतियों की माला उनके गले में डाल दी।

प्रभावती ने पत्र में लिखा था—"महाराणा, यद्यपि मेरा और आपका कभी साक्षात्कार नहीं हुआ, तो भी हिन्दूधर्म की प्राचीन परिपाटी के अनुसार मैं आपका वरण कर चुकी हूँ। अब आप मेरे स्वामी हैं, और मैं आपकी दासी। मुझे लेने के लिए दिल्लीश्वर पापी औरंगज़ेब अपनी सेना के साथ आ रहा है। परन्तु क्या कभी हँसिनी ने कौवे को अपनाया है! क्या राजपूतों की कन्या विधर्मियों की अंकशायिनी होगी। राणा जी इसका अर्थ यह होगा कि सिसोदिया वंश की विवाहिता कुल वधू हिन्दूपति महाराणा की अर्द्धाङ्गिनी को औरंगजेब अपहरण कर ले जायगा। मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि यदि आप मेरी रक्षा न करेंगे तो विष मेरा रक्षक होगा। पर आप यह अवश्य समझ लीजियेगा कि आपके वंश की सूर्य के समान उज्ज्वल कीर्ति में अवश्य धब्बा लग जावेगा।" इस पत्र को पढ़ते ही राणा चिंता-मग्न होगये।

पास बैठे चूड़ावत सरदार ने राणा को चिंता-मग्न देख कर पूछा—महाराणा एकदम चिंताग्रस्त क्यों होगये। राणा ने पत्र उनके हाथ में दे दिया और उसे सब सरदारों को सुना देने की आज्ञा दी।

इस पत्र को पढ़कर और महाराणा को चुप बैठा देखकर चारण जी राणा पर बड़े बिगड़े, वे बोले— महाराणा, इसमें इतना गंभीर

विचार क्या है, इसने आपको इतनी चिंता में क्यों डाल दिया है ? जो राजपूत-कन्या आपको मन से वर चुकी है, यदि आप उसकी रक्षा न कर सकेंगे, तो उसका क्या होगा। क्या वह विधर्मियों के हाथ चली जायगी। हिन्दूपति के लिए इससे अधिक और क्या अपमान होगा ? जिस प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हमारे आपके हजारों बाप-दादों ने लाखों सुपुत्रों को हँसते-हँसते बलि चढ़ा दिया, उस प्रतिष्ठा की रक्षा मेवाड़ का अधीश्वर न कर सके इससे अधिक लज्जा की बात और क्या होगी ? यदि कन्या ने आत्म घात कर लिया, यदि मेवाड़-पति शरणागत की रक्षा न कर सका तो उसका तो कुछ न बिगड़ेगा, परन्तु मेवाड़ के पवित्र नाम पर धब्बा लग जायगा। मेवाड़ की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए शरणागत को अपनाने के लिए और राजपूत-रमणी के सम्मान की रक्षा के लिए आप विवाह की तैयारी कीजिए। हम प्राण देकर भी मेवाड़ की मान-रक्षा करेंगे।"

राणा ने उत्तर दिया—"कविराज, मैं राठौर-कन्या के विवाह का प्रस्ताव अस्वीकृत न कर सकता था, केवल आप लोगों की सम्मति की प्रतीक्षा कर रहा था। जब तक मैं इस सिंहासन पर बैठा हूँ तब तक आप लोगों के आशीर्वाद से मेवाड़ के मान की रक्षा प्राण देकर भी की जायगी। आप इस विषय में निश्चिंत रहें।"

राणा के वचन सुनकर सबके मुख हर्ष से खिल उठे। रूपनगर के पुरोहित को वचन दिया गया कि राजकुमारी किसी प्रकार की चिंता न करे। राजपूत-गौरव की रक्षा अवश्य ही की जायगी। पुरोहित राणा को इस निश्चय पर बधाई देकर विदा हुआ।

अब प्रश्न यह था कि सम्राट् औरंगजेब का सामना कैसे किया जाय और फिर विवाह की घड़ी से पहले प्रभावती को लाना

भी आवश्यक था। यह निश्चय हुआ कि राणा कुछ चुने हुए सरदारों को साथ लेकर सीधा रूपनगर पहुँचें, और कुछ वीर राजपूत अपनी जान पर खेलकर रूपनगर की ओर जाते हुए औरंगज़ेब को रास्ते में ही रोक रखें। विजय और कार्य-सिद्धि का एक मात्र यही उपाय था। परन्तु इन जान पर खेलने वाले बलिदान के पथिकों का नायक कौन हो, यह एक कठिन प्रश्न था!

दिल्ली के सम्राट् की सेना का सामना करना सहज काम न था। साक्षात् अग्नि से खेलना था। यह सोचकर वीर सरदार भी एक बार सिहर उठे। जो वीर राणा को मान-रक्षा के लिए कह रहे थे, वे ही अब मौन थे। राणा विस्मित थे, वे कुछ कहना ही चाहते थे कि इतने में बीस वर्ष का नवयुवक वीर चूड़ावत सरदार उठा और गरजकर बोला—"महाराणा! एकलिंग देव को साक्षी रख कर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक आप विवाह कर रूपनगर से उदयपुर न पहुँच जायँगे, तब तक औरंगज़ेब का मार्ग रोके रहूँगा, उसे एक पग भी आगे न बढ़ने दूँगा।"

इस वीर-प्रतिज्ञा को सुन कर राणा प्रसन्न हो गये। उदयपुर में रणभेरी बज उठी। सामंत सरदार एकत्र होने लगे, राणा राजसिंह चुने हुए सरदारों के साथ रूपनगर को रवाना हुए। वीर चूड़ावत सरदार भी सेना समेत आगरा और रूपनगर के बीच, औरंगज़ेब का रास्ता रोकने के लिए चलने को प्रस्तुत हुए। इतने में उनकी दृष्टि सामने वाले राजप्रासाद की झिंझरीदार खिड़की पर जा पड़ी, जहाँ पर उनकी नव-विवाहिता पत्नी हाड़ी रानी खड़ी थी। चूड़ावत विह्वल हो उठे। सेना को वहीं ठहरने का आदेश दे वे प्रासाद की ओर चल पड़े।

५

चूड़ावत के पहुँचने से पहले ही उनकी प्रतिज्ञा का वृत्तान्त हाड़ीरानी के पास पहुँच चुका था। वह प्रसन्न हो रही थी, वह अपने सौभाग्य पर गर्व कर रही थी, परन्तु उसी समय जब उसने अपने पति के श्री-हीन मुख की ओर देखा तो बोली—सरदार जी, इस अवसर पर आपका मुख मुरझाया हुआ क्यों है ?

चूड़ावत ने उत्तर दिया—प्रिये, रूपनगर की राजकुमारी को बादशाह बलात् ले जाना चाहता है, इससे पहले वह हमारे राणा को पति वर चुकी है। राणा उसको लेने रूपनगर को रवाना हो रहे हैं और मैं बादशाह को रास्ते में रोकने के लिए जा रहा हूँ। मुझे आशा नहीं कि मैं इस युद्ध से लौट सकूँ। मुझे मृत्यु से भय नहीं है। जिस दिन मुझे मृत्यु का भय होगा उस दिन मेरे पूर्वजों का नाम कलंकित हो जायगा। मुझे यदि कोई चिंता है तो तुम्हारी ही। तुम अभी ब्याही आयी हो, जीवन का कुछ भी सुख तुमने नहीं भोगा। तुम्हारे कंकण भी अभी तक नहीं खुले और मैं मरने जा रहा हूँ। घोड़े पर चढ़ते ही मैंने ज्यों ही तुम्हारी ओर देखा, त्यों ही मेरा हृदय का आनंद काफूर होगया।

हाड़ी रानी हृदय पर हाथ धरकर बोली—प्राणनाथ! सत्य और न्याय की रक्षा के लिए लड़ने जाते समय सहज सुलभ साँसारिक सुखों की बुरी वासना को मन में घर करने देना, आपके समान प्रतापी क्षत्रिय-कुमार के लिए उचित नहीं आर्य-महिलाओं के लिए समस्त संसार की सारी संपत्तियों से बढ़कर सतीत्व ही अमूल्य धन है। जिस दिन मेरे तुच्छ साँसारिक सुखों की भोग-लालसा के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय-गौरव अरवली शिखर के ऊँचे

मस्तक से गिर कर चकनाचूर हो जायगा। यदि आप रणस्थल में विजय पाकर लौटेंगे तो मेरे लिए बड़े गौरव की बात होगी। यदि आपने क्षत्रियों की तरह युद्ध-क्षेत्र में ही स्वर्गलोक को प्रयाण किया, तो यह दासी भी आप का अनुगमन करेगी। इसलिए ऐसे शुभ समय पर आप सब माया-मोह त्याग कर आनन्द-पूर्वक रणस्थल की यात्रा करें। विश्वास रखिये कि मैं अपने कर्त्तव्य-पालन में किसी तरह की त्रुटि न करूँगी।

चूड़ावत सरदार रानी की बात सुनकर हर्ष से उसका आलिङ्गन कर चलने को प्रस्तुत हुए, और बोले—"अच्छा अब हम मर कर अमर होने जाते हैं, देखना प्यारी कहीं ऐसा न हो कि······।

इसके बाद वे बोल न सके। रानी उनके मन के भाव को समझ कर बोली—प्राणप्यारे! इतना अवश्य याद रखिये कि छोटा बच्चा चाहे आसमान छू ले, सीपी में चाहे समुद्र समा जाय, हिमालय चाहे हिल जाय, पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नहीं डिग सकतीं। चूड़ावत जी प्रेमभरी नज़रों से एक-टक रानी की ओर देखते हुए सीढ़ी से उतर पड़े और रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रह गई।

अब रानी विचार करने लगी कि प्राणनाथ का मन जब तक मेरी ओर लगा रहेगा तब तक वे एक-चित्त होकर युद्धक्षेत्र में अपना कर्तव्य-पालन न कर सकेंगे। इधर सरदार के मन में यह सन्देह था कि क्या मेरे पीछे रानी अपने धर्म का पालन कर सकेगी? यह सोचकर उन्होंने अपने सेवक को फिर रानी के पास भेजा। सेवक ने विनयभाव से रानी से कहा—"चूड़ावत जी चिह्न चाहते हैं, दृढ़ आशा और अटल विश्वास का। सन्तोष होने योग्य प्यारी

वस्तु दीजिए। और उन्होंने कहा है कि मेरे मरने के बाद अपने कर्त्तव्य-पथ पर डटे रहना।"

स्नेह-सूचक संवाद पाकर रानी को निश्चय होगया कि प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा तब तक निश्चय ही वे कृतकार्य न होंगे। इतना सोचकर वे बोलीं—"अच्छा खड़ा रह, मेरा सिर लिये जा और उनसे कहना, मैंने अपना कर्त्तव्य पालन कर लिया। अब आप अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिए।"

जब तक सेवक 'हाँ, हाँ' कहकर रोकने लगा—तब तक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बायें हाथ में लच्छेदार केशों वाला मुण्ड लिए हुए रानी का धड़ धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

धन्य देवी, तुम धन्य हो। पति को कर्त्तव्य-मार्ग का प्रदर्शन तुम्हारे जैसी देवियाँ ही कर सकती हैं। बेचारे भय-चकित सेवक ने यह 'दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिह्न' काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावत जी को दिया। उसे देख चूड़ावत जी प्रेम से पागल हो उठे।

प्राण-प्रिया को सीसु लै परम-प्रेम-उपहारु
चल्यौ हुलसि रण-मत्त ह्वै चूड़ावत सरदारु
पायौ प्रणय-प्रमाण मैं निज प्यारी-प्रियसीस
चूड़ावत! उर धारि सो ह्वैहौ समर-गिरीस

सुगंध से सिंचे हुए, मुलायम बालों के गुच्छों को दो हिस्सों में चीर कर चूड़ावत जी ने, सौभाग्य-सिन्दूर से भरे हुए, सुन्दर शीश को गले में लटका लिया और शत्रु-सेना की ओर चल दिये। उस समय मालूम होता था कि मानो स्वयं भगवान रुद्रदेव भीषण वेष धारण कर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं।

जब बादशाह ने मार्ग में एक दूसरा लश्कर देखा तो उसे

मालूम हुआ कि मेवाड़ के चूड़ावत सरदार रास्ता रोके हुए हैं। बादशाह ने सरदार को कहला भेजा कि हम उदयपुर पर चढ़ाई करने नहीं जा रहे, हम तो रूपनगर विवाह करने जा रहे हैं, अतः हमारा रास्ता साफ़ कर दो। सरदार ने उत्तर दिया कि यदि साहस है तो मार्ग साफ करा लो।

दोनों दलों में भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ। चूड़ावत सरदार राणा से प्रतिज्ञा करके आये थे कि जब तक आप विवाह कर रूपनगर से उदयपुर न पहुँच जायेंगे, तब तक मैं बादशाह का मार्ग रोके रहूँगा। उसको एक पग भी आगे नहीं बढ़ने दूँगा। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे हिमालय के समान अचल होकर डटे हुए थे, बादशाह की फौज बारं बार धावा बोलती, पर उसे पीछे हटना पड़ता। तीन दिन तक इसी तरह भयंकर युद्ध होता रहा। तीसरे दिन सरदार ने अद्भुत पराक्रम दिखाया। उनका घोड़ा बादशाह के हाथी पर चढ़ गया और उन्होंने बादशाह का अंत करने के लिए ज्यों ही भाला निकाला, त्यों ही वह गिड़गिड़ाकर बोला कि मेरी जान क्यों लेते हो ? विवाह की घड़ी तो यहीं पूरी हो गई। चूड़ावत ने कहा—"हाथ में कुरान लेकर शपथ खाओ कि दस वर्ष तक मेवाड़ पर चढ़ाई न करोगे, इसके पीछे तुम्हारी इच्छा। यदि तब मेवाड़ में वीर होंगे, तो वे अपनी रक्षा आप कर लेंगे।" यह कह कर ज्योंही सरदार ने घोड़ा लौटाया, त्योंही किसी मुगल-सेनापति ने उनका सिर धड़ से अलग कर दिया। भाटों का कहना है कि सिर कट जाने के बाद भी उस रात भर चूड़ावत सरदार लड़ते रहे। पूर्णिमा की रात समाप्त होने पर सरदार का धड़ घोड़े से नीचे गिरा।

आज पर्यन्त उस वीर चूड़ावत के स्मारक-स्वरूप एक समाधि

बनी हुई है, केवल राजपूत ही नहीं अन्यान्य जातियाँ भी 'जूझार जी' के नाम से उसकी पूजा करती हैं।

महाराणा राजसिंह ठीक समय पर रूपनगर पहुँच गये और राजकुमारी प्रभावती को साथ ले सर्वथा सुरक्षित रूप से वे उदयपुर लौट आये। वहाँ पहुँच उन्होंने चूड़ावत सरदार की वीरता का समाचार सुना और उसे सुनकर राणा के नेत्रों से आँसू बहने लगे।

इस तरह प्रभावती ने राणा राजसिंह को वर कर अपने सतीत्व, अपने धर्म और अपनी मर्यादा की रक्षा की और हाड़ी-रानी और नवयुवक चूड़ावत सरदार का स्वर्ग में परस्पर अनन्त-मिलन हुआ।

अहिल्याबाई

१

"अहिल्याबाई की अपने राज्य के आन्तरिक शासन की सफलता एकदम आश्चर्य-जनक थी। बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित होने से भी अधिक उस के राज्य की अभंग आन्तरिक शान्ति प्रशंसनीय है। इन्दौर का, जिस को उस ने एक छोटे से गाँव से एक प्रसिद्ध व्यापारिक शहर बना दिया था, उसे सदा ध्यान रहता था। उसके जीवन का प्रिय उद्देश्य अपने चारों ओर के लोगों की संपत्ति और समृद्धि को बढ़ाना था। जनता की सर्व-सम्मति से वह मालवा में सत्-शासन का आदर्श मानी जाती है। उसका प्रभाव केवल अपने राज्य में ही सीमित न था—जंगल के पशु, आकाशगामी पक्षी और जलचर मछलियाँ भी उसकी कृपा की पात्र थीं। साठ साल की अवस्था में जीवन की चिंताओं और कष्टों से जर्जरित हो कर उसके देह का अंत हुआ था। वह पुराण तथा अन्य धार्मिक पुस्तकों को अच्छी तरह पढ़ और समझ सकती थी जो कि उसके अध्ययन के प्रिय ग्रंथ थे। हिन्दुओं में स्त्रियों को अंदर बंद रखना तथा उनको परदा करने के लिए विवश करने की प्रथा न थी। प्रायः उच्च घराने के मरहठों ने यहाँ तक मरहठा ब्राह्मणों ने भी इस परदा-प्रथा का तिरस्कार किया था। इसलिए जब राज्य का शासन-सूत्र अपने हाथों में लेकर स्वयं प्रतिदिन राजदरबार में बैठ कर वह राज्य का कार्य

करती थी तब उसने किसी प्राचीन प्रथा की अवहेलना न की थी। अहिल्याबाई के शासन की प्रशंसा में जो कुछ कहा जाता है उसमें अविश्वास का कोई स्थान नहीं है। वह एक अद्वितीय स्त्री थी, जिसमें अभिमान का नाम न था, और जो भक्त होते हुए भी पक्षपात से रहित थी। उसे रानी नहीं देवी कहा जाता है और वह देवता का अवतार मानी जाती है। उसके चरित्र का जो गंभीरतम चित्र दिया जा सकता है, उसके अनुसार वह अपने सीमित क्षेत्र में अब तक होने वाले सर्वोत्तम शासकों में सब से अधिक आदर्श तथा पवित्रतम कही जा सकती है—सब छोटी और बड़ी जाति के मनुष्यों से अहिल्याबाई के सम्बन्ध में जब हालात पूछे गये तब ऐसा हाल कहीं भी नहीं मिला, जिस से उस की धवल कीर्त्ति में कुछ लांछन लगता, वरन् अहिल्याबाई के नाम श्रवण-मात्र से ही सब मनुष्य एकस्वर से उसके गुणों की कीर्त्ति तथा उसके परोपकार का यश आनन्दित होकर गाते थे। अहिल्याबाई के सम्बन्ध में जितना अधिक अन्वेषण किया गया, उतना ही अधिक पूज्यभाव और कुतूहल बढ़ता गया।"

अंगरेज़ी राज्य के प्रारंभिक काल में जिस समय भारत में चारों ओर गड़बड़ मची हुई थी, कहीं शान्ति का नाम न दिखाई देता था, उस समय जिस देवी की प्रशंसनीय राज्यशैली, धर्म-परायणता, चतुरता तथा बुद्धिमत्ता के कारण उसके राज्य में चैन की वंसी बजती थी, जिसके सम्पूर्ण अलौकिक गुणों पर मुग्ध हो विदेशी विद्वान सर जॉन मालकम को उपर्युक्त वचन कहने पड़े हैं, विन्सेंट स्मिथ आदि विदेशी ऐतिहासिक जिसकी प्रशंसा करते नहीं थकते, उस देवी अहिल्या का जन्म कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सर जॉन मालकम भी, जिन्होंने

उसके विषय में पर्याप्त खोज की थी, किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। कहा जाता है कि औरंगाबाद ज़िले के बीड़े तालुका के चोंट नामक गाँव में रहने वाले मानको जी शिंदे नामक एक गरीब सद्गृहस्थ के घर में उस जगत् प्रख्यात कन्या-रत्न का जन्म सन् १७३५ ई० में हुआ था। वह रूप में अधिक सुन्दरी नहीं थी, परन्तु उसके मुख-कमल पर एक अद्वितीय ज्योति विराजती थी।

उस समय महाराष्ट्रों में अधिक पठन-पाठन की रीति प्रचलित न थी तथापि अहिल्या को माता-पिता ने थोड़ा-बहुत पढ़ाया-लिखाया भी था। घर के काम-काज में भी वह बड़ो चतुर थी। बचपन से ही वह पाप से भय खाती थो, और जब तक ईश्वर-पूजन और पुराण-श्रवण न कर ले तब तक भोजन न करती थी। ज्योतिषियों ने कहा था कि वह एक दिन रानी होगी, और उस का यश भारत भर में फैल जायगा। जब वह विवाह के योग्य हुई तब पिता ने उसके लिए वर ढूँढना आरम्भ किया, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ तय न हो पाया।

२

मुगल-साम्राज्य का जब पतन हो रहा था, उस समय अनेक वीर ऐसे हुए जो सामान्य वंश में जन्म लेकर अपने उद्योग और बाहुबल से एक-एक राज्य की स्थापना करने में समर्थ हुए। उन्हीं वीरों और साहसी पुरुषों में से मल्हारराव होलकर भी था। बचपन में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई, और उसकी माता अपने भाई के पास जाकर रहने लगी, जो कृषि का काम करता था।

कहते हैं कि एक दिन गरमी के दिनों में मल्हारराव मामा के साथ खेत में काम करते हुए सो गया, उस समय एक महाकाय काला साँप अपना फन फैलाकर उसके मस्तक पर छाया करने

लगा। ऐसी दंत-कथाएँ अन्य कई महापुरुषों के विषय में भी प्रचलित हैं। सर्प को छाया करते देख उसके मामा ने अनुमान किया मल्हारराव अवश्य राजा बनेगा, अतएव उसने अपनी लड़की गौतमी का विवाह मल्हारराव के साथ कर दिया। मरहठों में मामा की लड़की के साथ ब्याह होने की प्रथा प्रचलित है।

मल्हारराव गाँव में से गुजरते हुए सैनिकों को देख वैसा ही बनने की इच्छा करता था। एक दिन वह किसी को बिना बताये अणकाई के दुर्ग की ओर चला गया और वहाँ सेना में नियुक्त हो, माता को सूचना देने के लिए रात को घर में आया। माता ने दूसरे दिन आशीर्वाद देकर बिदा किया। सेना में भरती होने के अनन्तर थोड़े ही दिनों में मल्हारराव ने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। यहाँ तक कि जगत् विख्यात बाजीराव पेशवा ने जब इसकी प्रसिद्धि सुनी तो उसे अपने पास पूना में बुलाया और थोड़ी देर अपने पास रखकर सब प्रकार से उसकी परीक्षा ली। जब मल्हारराव की योग्यता और सच्ची स्वामीभक्ति का पेशवा को पूर्ण विश्वास होगया तब उसने सन् १७२८ ईस्वी में उसको खिल्लत प्रदान कर सम्मानित किया और सेना का सूबेदार बनाकर मालवा तथा खानदेश का अधिकारी नियत किया और आदेश दिया कि दोनों प्रान्तों की आमदनी में से अपनी आश्रित सेना का संपूर्ण खर्च निकाल कर बचत का रुपया प्रति वर्ष पेशवा सरकार के कोष में जमा कराते जाया करो।

उस समय ये प्रान्त निज़ाम के अधिकार में थे। मल्हारराव ने निज़ाम के प्रतिनिधि को हराकर मालवा प्रान्त पर १७२८ में पूर्ण अधिकार जमा लिया और काम-काज का संपूर्ण भार अपने

विश्वास-पात्र सेवक दीवान गंगाधर पेशवा पर डाल कर स्वयं ऊपरी व्यवस्था करने लगा।

सन् १७२५ ईसवी में विजयादशमी के दिवस गौतमाबाई के पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। महाराष्ट्र लोगों का खंडोबा कुल-देवता है अतः मल्हारराव ने अपने पुत्र का नाम खंडेराव रखा।

खंडेराव दस वर्ष तक केवल खेल-कूद में लगा रहा। पढ़ाई-लिखाई की ओर वह सर्वथा ध्यान न देता था और स्वभाव का भी बड़ा हठी था। मल्हारराव बार-बार उसे सुधारने की चेष्टा करता था, परन्तु उसकी उद्दंडता दिन प्रति-दिन बढ़ती जाती थी। अंत में मल्हारराव ने यह निश्चय किया कि यदि खंडेराव का विवाह कर दिया जाय, तो कदाचित वह सुधर जाय। यह सोचकर उसके ब्याह के लिए लड़की की खोज को निकला।

३

एक दिन अकस्मात् राजा मल्हारराव ने मंदिर से आती हुई अहिल्या के मुख पर विरला तेज देख उसे अपनी पुत्रवधू बनाना चाहा। फलस्वरूप उस सभ्य-गृहस्थ की कन्या का विवाह राजा मल्हारराव के पुत्र खंडेराव के साथ हो गया। अहिल्याबाई बहुत गुणवती और सुशीला थी। ससुराल में पहुँचते ही उसने अपनी सेवाओं और मिष्ट-भाषण से सास-ससुर को अपने वश में कर लिया। वे भी अहिल्याबाई को अपने प्राणों से अधिक चाहते थे। खंडेराव का स्वभाव बड़ा हठी था, अब वह अपव्यय भी करने लगा था। पति का यह स्वभाव देख अहिल्याबाई को खेद होता था। वह अपने पति को नित्य प्रेम और आदर-पूर्वक नाना प्रकार के लौकिक और पौराणिक आख्यान सुनाती और उसे प्रेम से पिता के कार्य में हाथ बँटाने के लिए प्रेरित करती। शनैःशनैः

खंडेराव पर इसका प्रभाव पड़ा। राज्य-सम्बन्धी कार्य में उसने अपने पिता का हाथ बँटाना आरंभ किया। अहिल्याबाई के और भी अधिक समझाने से वह धीरे-धीरे युद्ध में भी जाने लगा।

मल्हारराव ने देखा कि अहिल्याबाई संपूर्ण-गृहकार्यों को उत्तम प्रकार से चलाने लगी है। इसलिए जब कभी वह स्वयं और खंडेराव बाहर जाते तब राज्य के कार्यों के ऊपरी निरीक्षण का भार भी अहिल्याबाई को सौंप जाया करते। इस काम को भी अहिल्या ने भली प्रकार से चलाया। ऐसे अवसरों को प्राप्त कर उसने किशोरावस्था में ही राज्य के कार्य को भली भाँति चलाने की योग्यता प्राप्त कर ली थी।

अहिल्याबाई को पुराण-कथा आदि के श्रवण का बड़ा शौक था। महाभारत वह बड़ी श्रद्धा से सुनती थी। इसी तरह आराम से उसके दिन कट रहे थे। कुछ काल के बाद उसके एक लड़का और एक लड़की पैदा हुई, जिनका नाम क्रमशः मालीराव और मुक्ताबाई रखा गया।

४

एक बार मल्हारराव ने अपने पुत्र खंडेराव सहित भरतपुर पर चढ़ाई की। वहाँ के जाट भी अपने प्राण देने को युद्धक्षेत्र में आ पहुँचे। इसी युद्ध में वीर खंडेराव की मृत्यु हो गई। देवी अहिल्या का सौभाग्य-सिंदूर यौवनावस्था में सदा के लिए पोंछ दिया गया। अहिल्या ने पति के साथ ही सती होना चाहा। इस पर दुःखित मल्हारराव बोला—"बेटी, खंडोजी तो मुझे इस बुढ़ापे में धोखा देकर छोड़ ही गया, अब तेरा मुख देख उसे मैं भुलाऊँगा। किन्तु यदि तू भी प्राण त्याग देगी तो मुझे भी, अपने प्राण तुझ से पहले ही दे देने पड़ेंगे।" वृद्ध ससुर को इस तरह बिलख-

विलख कर रोते देख देवी अहिल्या को भी अपना संकल्प त्यागना पड़ा।

पुत्र की मृत्यु के अनन्तर दुखित मल्हारराव तो प्रायः सेना के साथ रहता, परन्तु घर में रहकर अहिल्याबाई ही वार्षिक कर लेती, आय-व्यय का लेखा देखती और उसे जाँचती थी। सेना का व्यय अथवा जिस किसी व्यय की आवश्यकता होती, उतना धन अहिल्याबाई मल्हारराव के पास भेज देती। अहिल्याबाई के सिर पर राज्य का भार रहते हुए भी वह अपना अधिक समय दान-धर्म, तीर्थ, व्रत आदि में ही व्यतीत करती थी। इतना सामर्थ्य या प्रभुता होते हुए भी क्रोध या अभिमान ने उसके हृदय को स्पर्श तक न किया था। खंडेराव की मृत्यु के पश्चात् मल्हारराव ने अहिल्याबाई के नाम पर संपूर्ण राजकीय कार्य के कागज पत्र कर दिये और पेशवा को भी सूचित कर दिया। वे भी अहिल्याबाई की चतुरता और कार्यकुशलता को देखकर दंग थे और वारंबार स्वयं उसकी योग्यता की प्रशंसा करते थे।

प्रसिद्ध पानीपत की लड़ाई लड़ने के पूर्व मराठों की जो स्थिति थी, उसको पुनः प्राप्त करने तथा द्रव्य के लोभ से मराठा सरदारों ने उत्तरी भारत की ओर प्रस्थान किया। परन्तु ग्वालियर के समीप आलमपुर गाँव तक पहुँचते ही मल्हारराव का स्वास्थ्य बिगड़ गया, और मार्ग में ही उनका देहान्त होगया। मरते समय मल्हारराव अपने साथ में आये हुए विश्वस्त सरदार तुकोजीराव होलकर को अपने पौत्र मालीराव की देख-रेख का भार सौंप गये।

अब अहिल्याबाई के पुत्र मालीराव को गद्दी पर बिठाया गया, पर उसकी भी वर्ष भर के भीतर ही मृत्यु हो गई।

५

इन दुःखों से अहिल्याबाई का हृदय छलनी हो गया। किन्तु वह इन आपत्तियों से भी नहीं घबराई और धीरता-पूर्वक राज्य की बाग-डोर हाथ में ले राज्य का शासन करने लगी। अब वह राज्य के बाहरी कार्यों पर भी दृष्टिपात करती। राजमंत्री गंगाधर राव इस विपत्ति के अवसर में अपने लिए धन इकट्ठा करना चाहता था। उसने अहिल्याबाई से किसी को गोद लेने को कहा, पर अहिल्याबाई ने उसके प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया, क्योंकि मंत्री का उसमें स्वार्थ था और वह अपने किसी निकट सम्बन्धी को गोद लेने का अनुरोध कर रहा था। इस पर मंत्री क्रुद्ध हो गया और वह पेशवा के चाचा राघोवा जी से जा मिला। राघोवा ने राज्य के लोभ से गंगाधर राव को साथ देने का वचन दिया। जब गुप्तचरों से अहिल्याबाई को पता लगा तो उसने नम्रभाषा में एक पत्र राघोवा को लिखा। परन्तु राघोवा ने उसकी उपेक्षा कर सेना के साथ इन्दौर की ओर प्रयाण किया।

इधर अहिल्याबाई भी अपनी सेना तैयार करके लड़ने को तत्पर हो गई। उसने अपने विश्वस्त सेनापति तुकोजी राव को सेना का नेतृत्व सौंपा और स्वयं वीर वेश धारण कर अस्त्र-शस्त्र ले रण के लिए उद्यत हो गई। उसने गायकवाड़ और भोंसले से भी सहायता माँगी। भोंसला ने सहायता देना स्वीकृत कर लिया तथा नर्मदा के तट पर राघोवा की सेना का सामना करने के लिए डट गया। साथ ही पूना से पेशवा ने गुप्त पत्र भेज कर सहानुभूति प्रदर्शित की। इतनी तैयारी के अनंतर वह इंदौर से निकल गड़वाखेड़ी नामक स्थान पर शत्रु-सेना की प्रतीक्षा करने लगी।

अहिल्याबाई को लड़ाई के लिए तैयार देख कर गंगाधरराव

आश्चर्य-चकित हो गया। तब राघोबा और वे दोनों सलाह करने लगे। इधर ज्यों ही अहिल्याबाई को उनकी सेना का क्षिप्रा नदी तक पहुँचने का पता चला त्योंही उसने तुकोजीराव को वहाँ भेज दिया। उसकी सेना देख राघोबा डर गया और उसने संधि कर ली। फिर वह अहिल्याबाई के दर्शन के लिए इंदौर आया। जहाँ देवी ने उसका सब प्रकार से सत्कार किया। गंगाधरराव दक्षिण को चला गया, वहाँ उसकी मृत्यु हो गई।

६

इस समय राज्य पर अकेली अबला को देख संपूर्ण राज्य में चोर, लुटेरों और डाकुओं ने प्रजा को नाना प्रकार के कष्ट देना शुरू किया, जिसको सुनकर प्रजा को प्राण से भी अधिक प्रेम करने वाली देवी अहिल्या को बहुत दुःख हुआ। उसने संपूर्ण राज्य के प्रतिष्ठित मनुष्यों को गाँव-गाँव से निमंत्रित कर आम दरबार में यह घोषणा की कि जो कोई सज्जन मेरी प्राणप्यारी प्रजा की इन चोर डाकुओं से रक्षा कर उनके शांतिपूर्वक जीवन बिताने की व्यवस्था कर दिखायेगा, उस वीर को मैं अपनी एक-मात्र कन्या सौंप दूँगी। प्राचीन राजा भी अपनी कन्या के विवाह के लिए किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा किया करते थे, पर ऐसी प्रतिज्ञा बहुत कम ने की होगी। तब यशवंतराव फाणशे नामक एक मराठा नवयुवक ने उस काम का बीड़ा उठाया और दो वर्ष के भीतर ही उस साहसी ने चोर, लुटेरों और डाकुओं की इन्दौर से जड़ ही काट दी। देवी ने अपने कथनानुसार अपनी पुत्री मुक्ताबाई का विवाह उस वीर के साथ कर दिया।

अहिल्याबाई का एक अन्य प्रमुख काम भीलों के अत्याचारों को शान्त करना कहा जा सकता है। उस समय भीलों का अत्या-

चार बहुत बढ़ गया था। उन्होंने पथिकों पर 'भीलकौड़ी' नामक एक कर नियत कर दिया था। जो व्यक्ति वह कर न देता उसे मृत्यु का सामना करना पड़ता था। देवी अहिल्या ने इस अत्याचार को कई उपायों से नष्ट किया, और उन जंगली भीलों के रहन-सहन तथा अजीविका का प्रबंध करके उनकी उद्दंडता एक दम मिटा दी।

मल्हारराव मरते समय अपनी बहुत-सी सम्पत्ति छोड़ गये थे, अहिल्याबाई कुल सम्पत्ति को दान देने का निश्चय कर लिया था। एक बार राघोबाजी ने अहिल्याबाई से कुछ धन माँगा। अहिल्याबाई ने कहा—'मैं अपनी सारी सम्पत्ति शंकर-निमित्त अर्पण कर चुकी हूँ, अगर आप दान-रूप में उस धन को लेना चाहें तो मैं दे सकती हूँ।" इससे राघोबाजी चिढ़ गये और उन्होंने एक बड़ी सेना लेकर महेश्वर पर धावा बोल दिया! अहिल्याबाई ने इसबार महिलाओं की एक सेना तैयार करके पेशवा का सामना किया। मराठा सरदारों ने स्त्रियों पर अस्त्र चलाना स्वीकृत न किया। राघोबा लज्जित होकर इस बार भी लौट गया।

७

अहिल्याबाई का जीवन बहुत सादा था। वह सदैव श्वेत वस्त्र पहिना करती थी। भोग-विलास की सारी वस्तुएँ उसने छोड़ दी थीं। वह नित्य सवेरे उठ कर स्नान-पूजन करके दीन-दुखियों को दान करती थी। भूखे-प्यासे लोगों को वह पहले भोजन करा लेती तब स्वयं भोजन करती थी। उसका भोजन बहुत साधारण होता था। वह दोपहर के भोजन के अनन्तर थोड़ा-सा विश्राम करके राज-दरबार में जाती और वहाँ कागज़-पत्र स्वयं देखती तथा मंत्रियों की सलाह से उचित आज्ञा देती थी। उसके दरबार में किसी को आने की मनाही न थी। सब लोग उससे भेंट कर

सकते थे और अपनी कष्ट-कहानी सुना सकते थे। इस प्रकार वह सायंकाल तक नित्य राज-काज में लगी रहती थी।

अहिल्याबाई बड़ी-धर्मात्मा थी। उसने काशी, मथुरा, प्रयाग, जगन्नाथपुरी, बदरीनाथ, रामेश्वर, सोमनाथ, आदि तीर्थों में मंदिर, धर्मशालाएँ और घाट बनवा दिये थे, तथा गरीबों के लिए 'सदाव्रत' खुलवा दिये थे जो अब तक अहिल्याबाई के नाम को अमर बनाये हुए हैं। इसके सिवाय अहिल्याबाई ने विश्वनाथ जी के मंदिर में सोने का पत्र भी चढ़वाया था। उसने अपने राज्य में अच्छी-अच्छी सड़कें बनवा दीं और उनके दोनों ओर छायादार पेड़ लगवा दिये थे।

अहिल्याबाई को अपने मान-अभिमान तथा ठकुरसुहाती की बातों से घृणा थी। एक ब्राह्मण ने इस देवी की प्रशंसा में एक पुस्तक बना उसे भेंट की। देवी ने पुस्तक सुनकर यह कहकर नर्मदा में फिंकवा दी कि मुझ सरीखी पापिनी दूसरी दुर्लभ है, मुझ में ये सब प्रशंसनीय गुण नहीं हैं।

अहिल्याबाई का पुत्र पहिले ही मर चुका था। अब नाती नत्थू भी बीस वर्ष की अवस्था में संसार को छोड़ गया और उसके दुःख में यशवंतराव भी मर गया। पति के मर जाने से मुक्ता भी सती होना चाहती थी। देवी अहिल्या ने मुक्ता को सती होने से बहुत रोका, पर जब उसने न माना और एक पतिव्रता के लिए यह कार्य आवश्यक बताया, तब देवी अहिल्या ने हृदय कड़ाकर उसे सती होने की आज्ञा दे दी और उसकी चिता के आरोहण के समय एक भी आँसू न बहाया। अहिल्याबाई पर पुत्री की मृत्यु का गहरा प्रभाव पड़ा। उसका शरीर शोक से क्षीण होने लगा और इस चोट से वह सँभल न सकी।

अपने विश्वस्त सेनापति तथा सहायक तुकोजीराव होलकर के सहयोग से सामंत-सरदारों की सदिच्छा से तथा जनता-जनार्दन के आशीर्वाद से अपने स्वर्ग-गत श्वसुर तथा पति के संपूर्ण राज्य पर ३० वर्ष तक शांति से शासन कर और प्रजा का पुत्रवत् पालन कर वह देवी सांसारिक चिंताओं और चोटों से जर्जरित हो सन् १७९५ में स्वर्ग सिधार गई।

अहिल्याबाई ने स्त्री होकर भी जिस न्यायपरायणता से राज्य किया वैसा विरले ही किसी राजा ने किया होगा। अतएव आज भी महारानी का नाम गौरव और गर्व के साथ लिया जाता है, और कई लोग उन्हें अवतार तक कहते हैं।

मेरे स्वप्न आज ये जागे,
अब वे उपालम्भ क्यों भागे!
पा कर भी अपना धन आगे
भूली-सी मैं भान।
पधारो, भव भव के भगवान!

दृष्टि इधर जो तुमने फेरी,
स्वयं शान्त जिज्ञासा मेरी।
भय-संशय की मिटी अँधेरी,
इस आभा की आन!
पधारो, भव भव के भगवान!

यही प्रणति उन्नति है मेरी,
हुई प्रणय की परिणति मेरी,
मिली आज मुझको गति मेरी,
क्यों न करूँ अभिमान?
पधारो, भव भव के भगवान!

पुलक पक्ष्म परिगीत हुए ये,
पद-रज पोंछ पुनीत हुए ये!
रोम रोम शुचि-शीत हुए ये,
पा कर पर्वस्नान।
पधारो, भव भव के भगवान!

इन अधरों के भाग्य जगाऊँ;
उन गुल्फों की मुहर लगाऊँ!
गई वेदना, अब क्या गाऊँ?
मग्न हुई मुसकान।
पधारो, भव भव के भगवान!

कर रक्खा, यह कृपा तुम्हारी;
मैं पद-पद्मों पर ही वारी।
चरणामृत करके ये खारी
अश्रु करूँ अब पान।
पधारो, भव भव के भगवान!

बुद्धदेव

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत - दया - मूर्ति वह मन से, शरीर से,
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार बार
अप्सरा - अनीकिनी सजाये हेम-हीर से।
तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा, मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से।

अन्तिम अस्त्र, तुम्हारा रूप धरे एक अप्सरा आई;
किन्तु वराकी अपनी प्रवृत्ति पर आप काँप सकुचाई!

सुना था कलकण्ठी से ही कहीं
मैं ने मन का यह मन्त्र—
तनें, पर इतना, जो टूटे नहीं
तन्त्री, तेरा वह तन्त्र।

बतलाऊँ मैं क्या अधिक तुम्हें तुम्हारा कर्म,
पाला है तुमने जिसे, वही वधू का धर्म।

यशोधरा

कृतकृत्य हुई गोपा,
पाया यह योग, भोग, अब जा तू,
आ राहुल, बढ़ बेटा,
पूज्य पिता से परम्परा पा तू।

राहुल

तात, पैतृक दाय दो, निज शील सिखलाओ मुझे,
प्रणत हूँ मैं इन पदों में, मार्ग दिखलाओ मुझे,
असत से सत में, तिमिर से ज्योति में लाओ मुझे,
मृत्यु से तुम अमृत में हे पूज्य, पहुँचाओ मुझे।

तमसो मा ज्योतिर्गमय,
असतो मा सद्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

बुद्धदेव

मैं भी कृतकृत्य आज वीर वत्स, आ तू।
स्वाधिकार भागी बन भूरि भूरि भा तू।
सत्प्रकाश और अमृत एक साथ पा तू,
बुद्ध-शरण, धर्म-शरण, संघ-शरण जा तू।

राहुल

बुद्धं शरणं गच्छामि,
धर्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि।

यशोधरा

तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी।
मेरे दुख में भरा विश्वसुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी!
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं संघं शरणं गच्छामिऽ।

हरिः ॐ शान्तिः

श्रीमैथिलीशरण जी गुप्त लिखित

साकेत

[द्वितीयावृत्ति]

यह अनूठा महाकाव्य कवि की आजीवन साधना का फल है। भाव, भाषा, माधुर्य, ओज और विषय सभी दृष्टियों से यह अभूतपूर्व है। इस काव्य से हिन्दी भाषा का मस्तक ऊँचा हुआ है। भारतीय संस्कृति का जैसा उज्वल आदर्श इसमें उपस्थित किया गया है, वैसा दूसरी जगह मिलना कठिन है। ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ शताब्दियों में एक-आध ही लिखे जाते हैं। मोटे ऐण्टिक कागज पर सुन्दरतापूर्वक मुद्रित। पृष्ठ संख्या ५०० के करीब मूल्य ३)

प्रबन्धक,

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

गुप्तजी के अन्य काव्य-ग्रन्थ।

गुरुकुल	२)	
हिन्दू	१)	१।)
पञ्चवटी	।=)	
अनघ	।।।)	
स्वदेश-संगीत	।।।)	
त्रिपथगा	१।।)	
शक्ति	।)	
विकट भट	=)	
झङ्कार	।।=)	
भारत-भारती	१)	१।।)
जयद्रथ-वध	।।)	१)

प्रबन्धक,

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)